आत्मा ही है शरण

(डॉ. भारिल्ल द्वारा विदेशों में दिए गए व्याख्यानों का संक्षिप्त सार)

लेखक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रकाशकीय

यह तो सर्व विदित ही है कि देश-विदेश में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के माध्यम से वीतरागी तत्त्वज्ञान का जो अभूतपूर्व प्रचार-प्रसार हो रहा है; उसमें डॉ. भारिल्ल की सरल-सुबोध प्रवचन शैली एवं सशक्त लेखन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। विगत दश वर्षों से जून और जुलाई इन दो माह वे धर्मप्रचारार्थ विदेश में ही रहते हैं।

अमेरिकन और यूरोपीय देशों में बसे भारतीय जैनों में आध्यात्मिक चेतना जागृत करने के उद्देश्य से डॉ. भारिल्ल ने जो भी व्याख्यान वहाँ दिए, प्रवचन किए; उन्हें वे वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों में लिखते रहे हैं। संक्षिप्त यात्रा-विवरण के साथ लिखे गये वे लेख स्थायी महत्त्व की विषयवस्तु को रोचक उदाहरणों के माध्यम से अत्यन्त सरल शैली में प्रस्तुत करते हैं। जिन लोगों ने उनके सार्वजनिक प्रवचन सुने हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि जब वे साधारण से उदाहरण के माध्यम से वस्तु की गहरी मीमांसा प्रस्तुत करते हैं, बड़े-बड़े सिद्धान्तों को समझाते हैं तो पाठक मंत्र-मुग्ध होकर सुनता रहता है और वे बातें भी उसके गले उतर जाती हैं, जिन्हें वह सहजभाव से स्वीकार नहीं कर पाता है। करोड़पति रिक्शेवाले के उदाहरण के माध्यम से आत्मा स्वभाव से तो भगवान है ही, पर्याय में भी भगवान बन सकता है – इस बात को वे बड़ी ही खूबी से जनसामान्य के गले उतार देते हैं।

नवीन अपरिचित प्रबुद्ध श्रोताओं के लक्ष्य से विदेशों में दिये गये प्रवचन अनेक उदाहरणों और विविध तर्कों से संयुक्त तो हैं ही, आध्यात्मिक विषय-वस्तु के अतिरिक्त भी अनेक विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। अत: वीतराग-विज्ञान में प्रकाशित हो जाने के बाद भी समाज की मांग पर हम उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करते रहे हैं। सन् १९८४ से १९९१ तक के व्याख्यानों को हम यथासमय 'विदेशों में जैनधर्म : एक अध्ययन', 'विदेशों में जैनधर्म : प्रचार-प्रसार की सम्भावनाएँ', 'विदेशों में जैनधर्म : उभरते पद-चिन्ह', विदेशों में जैनधर्म : बढ़ते कदम', 'विदेशों में जैनधर्म : अध्यात्म की जगती जिज्ञासा', 'विदेशों में जैनधर्म : धूम क्रमबद्धपर्याय की एवं 'आत्मा ही है शरण' नाम से प्रकाशित कर चुके हैं ।

यद्यपि वे अभी भी प्रतिवर्ष विदेश जाते हैं, पर अब भूमिका तैयार हो जाने से वहाँ भी समयसार पर ही उनके प्रवचन होते हैं और समयसार अनुशीलन वे लिख ही रहे हैं। अत: उन्होंने इस विषय पर सम्पादकीय लिखना बन्द कर दिया है। अत: अब हम उक्त सभी पुस्तकों को एक कर 'आत्मा ही है शरण' नाम से प्रकाशित कर रहे हैं। यह उन सभी पुस्तकों का संशोधित रूप है; जिसमें यात्रा विवरणों को तो बहुत कम कर दिया है, पर व्याख्यान की विषय-वस्तु को उसी रूप में रखा है। यात्रा विवरण मात्र उतने ही रखे हैं, जितने कि इतिहास की सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। इसतरह अब यह एक विशुद्ध आध्यात्मिक कृति है, जिसका अध्ययन आध्यात्मिक गरिमा के साथ ही किया जाना चाहिए।

विषय-वस्तु के सम्बन्ध में मात्र इतना ही कहना है कि इसमें आरम्भ में अपेक्षाकृत कम महत्त्व की और आगे-आगे अधिक महत्त्व की विषय-वस्तु आई है। इसका कारण यह है कि आरम्भ में विदेशों में भूमिका तैयार न होने से स्थूल विषय लिया गया था और ज्यों-ज्यों भूमिका तैयार होती गई त्यों-त्यों विषय-वस्तु की गम्भीरता भी बढ़ती गई। अत: आध्यात्मिक रुचिवाले पाठकों से अनुरोध है कि वे इसके कुछ आरंभिक पेज पढ़कर पुस्तक को अधूरी न छोड़ दें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो वे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय-वस्तु से वंचित रह जाएंगे ।

'आत्मा ही है शरण' नामक लेख में णमोकार महामंत्र पर 'जैनभक्ति और ध्यान' में ध्यान पर जो प्रकाश डाला गया है, वह मूलत: गहराई से पढ़ने योग्य है। इसीप्रकार मेले में खोए बालक के उदाहरण से हमें आत्मानुभूति क्यों नहीं होती और कैसे हो ? इस विषय पर तथा अपने ही घर में झाडू-पोंछा लगाने वाले बालक के उदाहरण से सम्यग्दर्शन की महिमा पर जो प्रकाश डाला है; वह भी मूलत: पढ़ने योग्य है ।

कुन्दकुन्दशतक और शुद्धात्मशतक की गाथाओं पर किये गये प्रवचन भी अद्‌भुत और अपूर्व हैं। अत: यह कृति गहरा अध्ययन करनेवाले मुमुक्षुओं के लिए तो उपयोगी है ही, साथ ही सरल, सरस और रोचक होने से सामान्य पाठक के लिए भी बांधे रखने में समर्थ है। इसप्रकार यह सभी पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी कृति है ।

विदेशों में हो रहे इस महान कार्य को गति देने के उद्देश्य से इस ट्रस्ट ने बालबोध पाठमाला भाग १, २ व ३; वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २ व ३; तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ व २, जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, जैन बालपोथी, अहिंसा : महावीर की दृष्टि में, धर्म के दशलक्षण, तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ, क्रमबद्धपर्याय, अपने को पहिचानिए, कुन्दकुन्दशतक, तीर्थंकर भगवान महावीर, मोक्षमार्ग प्रकाशक तथा आप कुछ भी कहो - इन १९ पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवाद कराके प्रकाशित किए हैं। गोम्मटेश्वर बाहुबली भी अनुवाद होकर शीघ्र प्रकाशित हो रही है। इन पुस्तकों की २५ हजार से अधिक की प्रतियाँ विदेशों में पहुँचकर धर्म का अलख जगा चुकी हैं।

हमारा पूर्ण विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल की अन्य कृतियों के समान यह कृति भी पाठकों के हृदय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाएगी और इसके भी अनेक भाषाओं में अनुवाद होंगे ।

अन्त में शुद्ध व आकर्षक मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर व मुद्रण व्यवस्था के लिए साहित्य प्रकाशन व प्रचार विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को धन्यवाद देना चाहूंगा, जिनके सहयोग से अल्पसमय में पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो सका है। दान-दातारों का भी मैं आभार मानता हूँ, जिनके आर्थिक सहयोग से पुस्तक की कीमत इतनी कम रखी जा सकी है तथा जिनकी सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है ।

सभी आत्मार्थी भाई-बहिन इस कृति से लाभान्वित हों - ऐसी मंगल भावना है ।

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री

दि. १६ अक्टूबर, १९९३

विषय-सूची

१

विदेशों में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता

आज का युग वैज्ञानिक युग है। आवागमन के द्रुतगामी साधनों का विकास कर विज्ञान ने आज क्षेत्र की दूरी को समाप्त-सा ही कर दिया है। आज हम हजारों किलोमीटर दूर घण्टों में पहुँच सकते हैं और मिनटों में बात कर सकते हैं।

वह जमाना अभी बहुत पुराना नहीं हुआ है, जब सामान्य नदियों और छोटी-छोटी पहाड़ियों से विभक्त निकटवर्ती क्षेत्र भी एक दूसरे से अनजाने ही रहते थे; पर आज अगाध सागर और हिमालय जैसे पर्वतराज भी अलंघ्य नहीं रहे हैं। यही कारण है कि आज के आदमी का सम्पर्क सात समुद्र पार के लोगों से भी सहज संभव हो गया है।

सहज उपलब्ध आवागमन की इस सुविधा का सर्वाधिक लाभ व्यापारी समाज ने उठाया। घुमक्कड़ अध्यवसायी यह समाज प्राचीनकाल में भी अनेक कठिनाइयाँ और विपत्तियों का सामना करते हुए देशान्तरों में आता-जाता रहा है। आवागमन के सहज साधनों ने उसे और भी अधिक प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप भारतीय व्यापारी समाज भी विश्व भर में फैल गया।

जैनसमाज मूलतः व्यापारी समाज रहा है; अतः वह भी विश्व के कोने-कोने में पहुँच गया। यूरोपीय और अमेरिकन देशों की भौतिक समृद्धि ने उसे विशेष आकर्षित किया । अच्छे वेतनमानों में रोजगार के सहज साधन उपलब्ध होने के कारण पढ़ा-लिखा समाज भी विदेशों की ओर विशेष आकर्षित हुआ।

अन्य समाजों की अपेक्षा जैनसमाज अधिक शिक्षित समाज है; अतः विदेशगमन में भी वह अग्रगण्य रहा। ध्यान रहे जैनसमाज की समस्त उपलब्धियाँ; प्रतिभा, साहस, उद्यम और परिश्रम का ही परिणाम हैं; क्योंकि अल्पसंख्यक होने से बहुमत के आधार पर उपलब्ध होनेवाली उपलब्धियों का तो प्रश्न ही नहीं उठता; अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में होने के कारण उसे वे लाभ भी प्राप्त नहीं हो सके हैं, जो इस युग में अल्पसंख्यकों और पिछड़े वर्गों को मिलते रहे हैं।

जो भी हो, आज अकेले अमेरिका (यू.एस.ए.) में ही पचास हजार जैन रहते हैं। लन्दन (यू.के.) में भी हजारों जैनबन्धु रहते हैं।

जो पीढ़ी भारत से स्वयं वहाँ गई है, उसे तो अपनी संस्कृति और मातृभाषा का सामान्य परिचय है; कुछ लोग थोड़े-बहुत तत्त्वज्ञान से भी परिचित हैं; पर जो पीढ़ी वहाँ ही जन्मी है, वह अपनी संस्कृति, मातृभाषा और जैन तत्त्वज्ञान से लगभग पूर्णतः अपरिचित ही है। सर्वाधिक चिन्ता की बात तो यह है कि मातृभाषा के ज्ञान के अभाव में माध्यम ही समाप्त-सा होता जा रहा है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि विदेशों में बसे जैनबन्धुओं के सामने आज अपनी संस्कृति और तत्त्वज्ञान की सुरक्षा का अहं सवाल उपस्थित है। इस समस्या के समुचित समाधान के लिए विदेशों में बसा जैनसमाज चिंतित भी है; चिंतित ही नहीं, अपनी शक्ति और सुविधा के अनुसार तदर्थ सक्रिय भी है।

इस बात का गहरा अनुभव मैंने अपनी इस विदेशयात्रा में गहराई से किया है। मेरी इस विदेशयात्रा का एकमात्र मूल उद्देश्य यू.एस.ए. और यू.के. में बसे जैन बन्धुओं तक जैन तत्त्वज्ञान के मर्म को पहुँचाना ही था। साथ ही मैं यह अध्ययन भी करना चाहता था कि विदेशों में बसे जैनबन्धुओं में जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की क्या संभावनाएँ हैं?

इस यात्रा के दौरान लन्दन और अमेरिका के चौदह महानगरों में बसे जैनबन्धुओं से हुए निकट सम्पर्क और चर्चा के आधार पर मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यदि संगठितरूप से योजनाबद्ध प्रयास किये जायें तो भारत की अपेक्षा वहाँ अल्प प्रयत्नों से भी अधिक कार्य हो सकता है; क्योंकि एक तो वहाँ अभी साम्प्रदायिकता की भावना बहुत कम है, दूसरे विदेशों में बसे जैनबन्धु व महिलाएँ सुशिक्षित और प्रतिभासम्पन्न हैं तथा जैन तत्त्वज्ञान के मर्म को बिना भेदभाव के समझने के लिए लालायित भी हैं।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि वहाँ लगभग प्रत्येक नगर में 'क्रमबद्धपर्याय' जैसे गूढ़ विषय की चर्चा करनेवाले भी मिले। प्रतिदिन प्रवचन के बाद होनेवाले प्रश्नोत्तरों में सर्वाधिक प्रश्न क्रमबद्धपर्याय संबंधी ही पूछे जाते थे। प्रश्नोत्तरों का मूल विषय या तो तात्त्विक होता था या फिर जैन संस्कृति की सुरक्षा संबंधी उपायों पर मार्गदर्शन चाहा जाता था। सामान्य या ऊटपटांग प्रश्न बहुत ही कम आते थे। प्रश्नोत्तरों की गंभीरता के साथ-साथ चर्चा में जैन-संस्कृति और तत्त्वज्ञान संबंधी सुरक्षा की चिन्ता अधिक व्यक्त होती थी, जिससे उनके मानस का स्पष्ट पता चलता था।

यद्यपि मैं वहाँ पहलीबार ही गया था, पर मुझे वहाँ अपरिचित जैसा कुछ भी नहीं लगा; क्योंकि मुझे वहाँ अनेक लोग मिले, जिन्होंने मुझे पहिले भारत में कहीं न कहीं सुना अवश्य था। भले ही मैं उन्हें नहीं जानता था, पर वे लोग मेरे से भली-भाँति परिचित थे; क्योंकि उन्होंने मेरे प्रवचनों को तो कई बार सुना ही था, मेरा साहित्य भी पढ़ा था। मेरी क्रान्तिकारी कृति 'क्रमबद्धपर्याय' मुझसे बहुत पहले वहाँ पहुँच चुकी थी। उसने बहुत पहले से भूमि तैयार कर दी थी, जिससे मुझे सर्वत्र बहुत वात्सल्य और अपनत्व मिला।

साहित्य भी कितना प्रभावशाली होता है, उसकी पकड़ कितनी गहरी और सुदूरवर्ती होती है — इस बात का अनुभव भी मुझे इस यात्रा के दौरान ही हुआ।

मुनि श्री सुशीलकुमारजी स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधु हैं, पर अमेरिका में वे बिना किसी भेदभाव के सभी के मुख में णमोकार मंत्र डाल रहे हैं। उनकी प्रेरणा से न्यूजर्सी में एक सौ सत्तरह एकड़ के विशाल भूखण्ड में एक आश्रम की स्थापना की गई है। उस स्थान का नाम रखा है "सिद्धाचलम्"। यद्यपि वे स्थानकवासी साधु हैं, मुँहपत्ती लगाते हैं; तथापि उसमें उन्होंने दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित कर रखी हैं। वे वहाँ शिखरजी, गिरनारजी, पावापुरी आदि सिद्ध क्षेत्रों के प्रतीक बनाने के साथ-साथ गोम्मटेश्वर बाहुबली की भी स्थापना करना चाहते हैं। वहाँ उनका बच्चों के लिए धार्मिक शिक्षण शिविर चल रहा था, जिसमें छोटे-बड़े ७५ छात्र सम्मिलित थे।

जब उन्हें पता चला कि अमेरिका के विभिन्न नगरों के जैन सेन्टरों में मेरे व्याख्यान चल रहे हैं, तो उन्होंने जैन सेन्टरों के फैडरेशन अध्यक्ष डॉ. मनोज धरमसी के माध्यम से शिविर के समापन समारोह में मेरा व्याख्यान 'सिद्धाचलम्' में रखने की व्यवस्था कराई।

उक्त अवसर पर वहाँ लगभग सभी सेन्टरों के पदाधिकारियों से साथ-साथ ७५ छात्रों के अभिभावक, छात्र एवं अन्य समाज भी उपस्थित था। वहाँ "भगवान महावीर और उनकी अहिंसा" विषय पर मेरा व्याख्यान हुआ तथा मुनिश्री के अनुरोध पर श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर से होनेवाली तत्त्व-प्रचार संबंधी गतिविधियों का परिचय भी दिया।

समस्त उपस्थित समाज के साथ-साथ मुनिश्री भी बहुत प्रभावित हुये। मुनिश्री ने व्याख्यान और सुगठित प्रचारतंत्र की हार्दिक प्रशंसा-अनुमोदना करते हुए समस्त अमरीका की जैनसमाज की ओर से मुझे 'जैनरत्न' की उपाधि से अलंकृत किया, जिसका करतल ध्वनि से सभी समाज ने अनुमोदन किया।

आगामी पीढ़ी में संस्कार सुरक्षित रहें — इस सन्दर्भ में लगभग सभी जगह हमने जो कुछ कहा; उसका सार इसप्रकार है :—

"मनुष्य और पशुओं में मूलभूत अन्तर यही है कि मनुष्य को पैतृक सम्पत्ति के रूप में अपने माँ-बाप से कुछ न कुछ अवश्य उपलब्ध होता है, जब कि पशु इस उपलब्धि से वंचित ही रहते हैं। हम सबको भी अपने माँ-बाप से भौतिक सम्पत्ति के साथ-साथ नैतिक संस्कार और सामान्य तत्त्वज्ञान की भी उपलब्धि हुई हैं; णमोकार मंत्र, पंचपरमेष्ठी की उपासना और सात्त्विक निरामिष जीवन मिला है।

जब हम भौतिक सम्पत्ति को कई गुना करके अपनी सन्तान को दे जाना चाहते हैं तो क्या अपनी सन्तान को आध्यात्मिक धार्मिक संस्कारों को दे जाना हमारा कर्तव्य नहीं है? यह कर्तव्य हमारी पिछली शताधिक पीढ़ियाँ सतर्कता से निभाती आ रही हैं, अन्यथा भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित तत्त्व हमें आज कैसे उपलब्ध होता?

सदाचारी नैतिक जीवन और जैन तत्त्वज्ञान की अविरल धारा जो पच्चीस सौ वर्ष से लगातार अविच्छिन्न चली आ रही है, उसकी उपेक्षा करके क्या हम ऐसा भयंकर अपराध नहीं कर रहे हैं, जो हमारी शताधिक पीढ़ियों से आज तक कभी नहीं हुआ है और जिसका परिणाम हमारी भावी एक पीढ़ी को नहीं, अनेकानेक पीढ़ियों को भोगना होगा? भारत में तो सामाजिक वातावरण से भी बच्चे कुछ न कुछ धार्मिक संस्कार ग्रहण कर ही लेते हैं, यहाँ तो उसप्रकार का वातावरण उपलब्ध नहीं है; अतः बच्चों में धार्मिक संस्कार डालने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अभिभावकों का ही है।"

इस सन्दर्भ में क्या किया जा सकता है? —इसकी चर्चा करते हुए मैंने कहा :—

"आपका सद्भाग्य है कि आप लोगों को सप्ताह में शनिवार और रविवार दो दिन का पूर्णावकाश मिलता है। इसमें से एक दिन आप अपने गृहस्थी के कार्यों या घूमने-फिरने में लगाइये और दूसरे दिन प्रत्येक नगर में रहनेवाले जैनबन्धुओं का किसी एक स्थान पर सामूहिक रूप से मिलने का कार्यक्रम रखिए, जिसमें भक्ति-संगीत के साथ-साथ सभी आयुवर्गों के लिए यथासंभव

पृथक्-पृथक् धार्मिक अध्ययन, प्रवचन, तत्त्वचर्चा, गोष्ठी आदि के कार्यक्रम होने चाहिये।

इसीप्रकार वर्ष में एक-दो बार सभी नगरों के सामूहिक सम्मेलन भी होने चाहिए, जिसमें सभी लोगों का परस्पर मिलन हो सके। इस सम्मेलन का आधार भी धार्मिक और तात्त्विक ही होना चाहिए।

दूसरे; समय-समय पर भारत से योग्य विद्वानों को बुलाकर उनके कार्यक्रमों के माध्यम से भी जागृति उत्पन्न करना चाहिए। आपके बालकों को लगभग तीन माह का ग्रीष्मावकाश प्राप्त होता है। उसका पूरा-पूरा सदुपयोग भी जैनसंस्कृति के परिचय में होना चाहिए। जैनसंस्कृति के परिचय के लिए आवश्यक है कि उन्हें अपने सांस्कृतिक केन्द्रों का भ्रमण कराया जाय तथा लगभग एक माह भारतीय पद्धति से जैनदर्शन के अध्ययन में बिताना चाहिए, जिससे उन्हें जैन तत्त्वज्ञान के सामान्य ज्ञान के साथ-साथ भारतीय पद्धति से जीवन जीने का प्रायोगिक ज्ञान भी हो सके।"

उक्त सुझाव देने के साथ-साथ मैंने उन्हें इस कार्य में सहयोग देने का भी आश्वासन दिया। मैंने कहा –

"यदि आप और आपके बालक जैन तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिए जयपुर पधारें तो हमारी संस्था आपके ठहरने, भोजन एवं अध्ययन की यथासंभव अच्छी से अच्छी सुविधा निःशुल्क प्रदान करेगी। यदि आप हमें पहिले से सूचित करके पधारेंगे तो हम आपको सभी तरह से अधिक संतुष्टि प्रदान कर सकेंगे। वैसे ठहरने और भोजन की सामान्य सुविधाएँ तो हमारे यहाँ सतत उपलब्ध रहती ही हैं।"

हमारे इस सक्रिय सहयोग का पूरा-पूरा लाभ उठाने की हार्दिक भावनाएँ वहाँ की समाज ने व्यक्त की हैं, पर यह तो भविष्य बतायेगा कि इसमें वे लोग कितने सक्रिय हो पाते हैं? पर हमारा विश्वास है कि कुछ न कुछ लोग जयपुर अवश्य पधारेंगे।

उनके सामने एक अहम सवाल भाषा का अवश्य है। विदेशों में जन्मी पीढ़ी अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषा समझती ही नहीं है। जैन तत्त्वज्ञान को उन तक पहुँचाने के लिए जैनदर्शन के मर्मज्ञ ऐसे तार्किक विद्वान कहाँ उपलब्ध होंगे, जो उन्हें जैनदर्शन के मर्म को अंग्रेजी भाषा में सतर्क समझा सकें? किसी भाषा में धाराप्रवाह बोलने का अधिकार निरन्तर बोलने के अभ्यास से होता है। भारत में ऐसा वातावरण कहाँ है, जहाँ जैनदर्शन को अंग्रेजी में निरन्तर सुनने के लिए श्रोता उपलब्ध हों? लौकिक बातें अंग्रेजी में कुछ लोग भले ही कर लें, पर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है।

दूसरी ओर विदेशों में जन्मी भावी पीढ़ी का इतनी अच्छी हिन्दी-गुजराती सीखना भी संभव नहीं लगता कि गूढ़ रहस्य के प्रतिपादक वक्ताओं के भावों को पूर्णतः ग्रहण कर सकें।

इस सन्दर्भ में भी मैंने मध्यम मार्ग सुझाया :—

"अंग्रेजी के शिक्षक और साहित्य तैयार करने के साथ-साथ बालकों को भी अपनी मातृभाषा का ज्ञान कराया जाना चाहिए।

जो लोग जैन तत्त्वज्ञान और उसके प्रचार-प्रसार में रुचि रखते हों, उन लोगों को भारत आकर जैनदर्शन का थोड़ा-बहुत अध्ययन करना चाहिए। उन्हें हम सब प्रकार की सुविधायें जुटाकर थोड़े ही दिनों में इस योग्य बना देंगे कि वे लोग अपने नगर के बालकों को अंग्रेजी या उनकी मातृभाषा में जैन तत्त्वज्ञान का सामान्य ज्ञान करा सकेंगे।"

हमारे इस प्रायोगिक स्तर पर खरे उतरनेवाले सुझाव को भी पसन्द किया गया; पर सब-कुछ भविष्य की सक्रियता पर ही निर्भर करेगा। यदि दो-चार कार्यकर्त्ता भी इस दिशा में कमर कस के सक्रिय हो गए तो कुछ भी असंभव नहीं है। हमें विश्वास है कि ऐसे लोग अवश्य निकलेंगे, क्योंकि अभी पृथ्वी निर्बीजक नहीं हुई है।

हमारी यह यात्रा लन्दन से आरम्भ हुई थी। सर्वप्रथम हम २६-६-१९८४ को लन्दन पहुँचे। हमारे साथ कुल अठारह यात्री थे, जिनमें हिन्दी-गुजराती सभी थे। श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमारजी खुरई और सवाई सिंघई धन्यकुमारजी कटनी जैसे लोग भी थे। लन्दन में हमारे सहयात्रियों को थोड़ी कठिनाई अवश्य हुई, पर आगे सब-कुछ व्यवस्थित हो गया।

लन्दन में पाँच प्रवचन और लगभग दस घन्टे तत्त्वचर्चा हुई। ध्यान रहे सर्वत्र ही एक घन्टे के प्रवचन के उपरान्त लगभग एक घंटा प्रश्नोत्तर होते ही थे। प्रवचनों में २०० से ४०० तक उपस्थिति रहती थी और चर्चा में ५० से १०० के बीच। यहाँ दो प्रवचन श्रीमती गुणमाला भारिल्ल के भी हुए।

लन्दन में केनिया से आये बहुत से मुमुक्षु भाई रहते हैं। उनमें जागृति अच्छी है। हमारी प्रेरणा से सप्ताह में एक दिन सामूहिक स्वाध्याय का संकल्प लिया गया और दस-बीस व्यक्तियों के ग्रुप द्वारा एक माह के लिए जयपुर आकर जैनदर्शन के गहरे अध्ययन की भावना भी व्यक्त की गई।

लन्दन के बाद हम २ जुलाई को न्यूयार्क पहुँचे। न्यूयार्क का कार्यक्रम अन्त में रखा गया था; अतः वहाँ से नाग्राफाल देखते हुए वाशिंगटन चले गए, जहाँ हमें रजनीभाई गोशालिया के यहाँ ठहरने का अवसर मिला। रजनीभाई गहरी पकड़वाले आध्यात्मिक रुचि-सम्पन्न व्यक्ति हैं। वाशिंगटन में हॉल में एक प्रवचन तथा प्रश्नोत्तर एवं रजनीभाई गोशालिया के घर दो दिन तक प्रतिदिन दो-दो घन्टे अनेक बन्धुओं की उपस्थिति में गहरी तात्त्विक चर्चाएँ हुईं।

वहाँ से हम लासएंजिल्स पहुँचे, जहाँ रमेशभाई दोशी के यहाँ ठहरना हुआ। यहाँ भी दो प्रवचन एवं लगभग तीन घन्टे तत्त्वचर्चा हुई। एक प्रवचन श्रीमती गुणमाला भारिल्ल का भी हुआ। वहाँ से सानहुजो गये, जहाँ हिम्मतभाई डगली के यहाँ ठहरना हुआ। वहाँ एक प्रवचन और लगभग एक घन्टे तत्त्वचर्चा हुई।

इसके बाद सान्फ्रांसिस्को पहुँचे। सान्फ्रांसिस्को में श्रीमद् रायचन्द्र के अनुयायी गुजरात के पटेल लोग बहुत संख्या में रहते हैं; उनका वहाँ होटल और मोटलों का धंधा है। वे लोग बड़े भद्र परिणामी लोग हैं। उनके यहाँ भी हमारा एक प्रवचन व चर्चा हुई ।

इसके बाद शिकागो पहुँचे । वहाँ भी एक प्रवचन एवं तत्त्वचर्चा का कार्यक्रम हुआ। इसके बाद क्लीवलैंड पहुँचे, जहाँ डॉ. के. सी. भायजी के यहाँ ठहरे। अन्य स्थानों के समान वहाँ भी प्रवचन और तत्त्वचर्चा के कार्यक्रम हुए। इसीप्रकार डिट्रोयट में भी प्रवचन और चर्चा के कार्यक्रम हुए।

इसके बाद ह्यूस्टन पहुँचे। वहाँ तीन दिन रुके। यहाँ तीन प्रवचन और लगभग पाँच घण्टे की तात्त्विक चर्चा हुई।

इसके बाद फोर्टवर्थ में शैलेश देसाई एवं डलास में अतुल खारा के यहाँ ठहरे । दोनों स्थानों पर प्रवचन और तत्त्वचर्चा के कार्यक्रम पूर्ववत् ही हुए । बोस्टन में जैन सेन्टर के अध्यक्ष डॉ. विनय जैन के यहाँ ठहरना हुआ । यहाँ प्रवचन और चर्चा का कार्यक्रम पूर्ववत् ही हुआ। यहाँ से कार द्वारा डॉ. विनय जैन के परिवार के साथ ही दि. २८-७-८४ को सिद्धाचलम् पहुँचे ।

बोस्टन, न्यूयार्क और न्यूजर्सी में जिनमन्दिर भी हैं; जिनमें दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों प्रकार की ही मूर्तियाँ हैं। यहाँ जिनमन्दिर चर्च खरीदकर बनाये गये हैं; अतः उनकी बाहरी रूपरेखा चर्चों जैसी ही है, जिनमन्दिरों जैसी नहीं। प्रत्येक में प्रवचन हॉल भी हैं, जिनमें ३००-४०० आदमी बैठ सकते हैं। तीन स्थानों पर प्रवचन आदि के कार्यक्रम उन्हीं जिनमन्दिरों के हॉल में हुए। न्यूयार्क और न्यूजर्सी में तीन प्रवचन हुए। न्यूयार्क में तो इतने लोग इकट्ठे हुए कि कुछ लोगों को बाहर खड़ा रहना पड़ा। प्रत्येक प्रवचन के बाद लगभग १ घण्टे ३० मिनट चर्चा हुई । इसके अतिरिक्त डॉ. महेन्द्र पाण्ड्या एवं श्री दिलीपजी सेठी के घर भी तत्त्वचर्चा

के कार्यक्रम रखे गये। इन तत्त्वचर्चा के क्रार्यक्रमों में भी पहले तो एक घण्टे गम्भीर विषय पर प्रवचन जैसा ही होता था, बाद में लगभग एक घण्टे चर्चा चलती थी।

न्यूयार्क में हम श्री सुशीलकुमारजी गोदीका के घर ठहरे थे। जिस पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने आज देश-विदेश में सभी जगह जैन तत्त्वज्ञान को घर-घर पहुँचाने का बीड़ा उठा रखा है, उस ट्रस्ट के संस्थापक अध्यक्ष सेठ श्री पूरणचन्दजी गोदीका के वे सुपुत्र हैं एवं पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के ट्रस्टी भी हैं ।

इस सम्पूर्ण यात्रा में जिन पन्द्रह स्थानों पर हमारे प्रवचनादि कार्यक्रम हुए, उनकी उपस्थिति का अनुपात यदि १२५ से १३० के बीच भी मानें तो दो हजार से अधिक लोगों ने हमें सुना है; क्योंकि ये स्थान एक-दूसरे से इतने दूर हैं कि एक स्थान के श्रोता का दूसरे स्थान पर पहुँचना सम्भव नहीं है। यदि एक व्यक्ति ने अपने दो-दो इष्ट-मित्रों से भी इसकी चर्चा की हो, उन्हें टेप उपलब्ध कराये हों तो छह हजार लोगों तक वीतरागी तत्त्व पहुँचा है। ये छह हजार भारत के साठ हजार से कम नहीं; क्योंकि ये सभी शिक्षित और प्रतिभाशाली लोग थे, भारत के श्रोताओं में तो पढ़-अपढ़ सभी रहते हैं ।

मैं अपनी इस यात्रा को यू. के. और यू. एस. ए. में गहरे जैन तत्त्वज्ञान के भवन का शिलान्यास समझता हूँ। हमारी कल्पना का भव्य भवन वहाँ खड़ा हो पाता है या नहीं —यह तो भविष्य ही बतायेगा, उसके बारे में कुछ भी कहना न तो संभव ही है और न उचित ही; किन्तु इस कल्पना के साकार होने की पावन भावना के साथ ही इस यात्रा-विवरण से विराम लेता हूँ ।

२

विदेशों में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार की सम्भावनाएं

विदेशों में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार की चर्चा जब भी चलती है, तब उसका आशय जैनेतर बन्धुओं में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार से ही समझा जाता है, इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता कि आज विश्व का एक भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ प्रवासी जैन न रहते हों। विश्व के कोने-कोने में भारतीय जैनों का आवास है। अकेले अमेरिका (यू. एस. ए.) में पचास हजार जैन रहते हैं। कनाडा में भी प्रचुर मात्रा में जैनों का निवास है। ब्रिटेन, बेल्जियम आदि यूरोपीय देशों एवं केनिया आदि अफ्रीकी देशों की भी यही हालत है।

अमेरिकन, अफ्रीकी एवं यूरोपीय देशों में बसे जैनों से अनेक बार हुए निकट सम्पर्क के आधार पर मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि आज जैनेतरो को जैन बनाने की अपेक्षा जैनों को ही जैन बनाये रखने की आवश्यकता अधिक है।

मैं यह नहीं कहता कि जैनेतरों मे जैनधर्म का प्रचार-प्रसार नहीं होना चाहिए। होना चाहिए, अवश्य होना चाहिए; पर पड़ोसियों को अमृत बांटने में हम इतने व्यस्त भी न हो जावें कि अपना घर ही न संभाल पावें। यदि हमारा घर ही विकृत हो गया तो फिर पड़ोसियों की संभाल भी संभव न रहेगी; क्योंकि पड़ोसी कोरे उपदेशों से प्रभावित होने वाले नहीं हैं, वे हमारा आचरण देखकर ही प्रभावित होते हैं। जब हमारा घर ही शाकाहारी न रहेगा तो फिर हम किस मुँह से दूसरों को शाकाहर का उपदेश देंगे? जब हमारी आगामी पीढ़ी के मुख में ही णमोकार मंत्र न होगा तो किस आधार पर दूसरों के मुख में णमोकार मंत्र डालेंगे?

एक बात और भी तो है कि मात्र शाकाहार और णमोकार मंत्र ही तो जैनधर्म नहीं है, इनके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। जबतक

जैनतत्त्वज्ञान का गहराई से प्रचार-प्रसार न होगा, तबतक असली जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार संभव नहीं है ।

धर्मप्रेमी विदेशी बन्धुओं के अनुरोध पर वहाँ से आते ही मैंने जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों का सामान्यज्ञान एवं सदाचार की प्रेरणा देनेवाली बालकोपयोगी धार्मिक पाठ्यपुस्तकों का अनुवाद कार्य तेजी से आरम्भ कराया, उन्हें छपाने की त्वरित व्यवस्था की और छह माह के भीतर ही बालबोध पाठमाला भाग १-२-३ तथा वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १-२-३ इसप्रकार छह पुस्तकें अंग्रेजी में छपकर तैयार हो गईं ।

उक्त छह पुस्तकों के एक हजार सेट लेकर मैं इस वर्ष दुबारा यू. के. और यू. एस. ए. की यात्रा पर निकला ।

विज्ञान के बढ़ते प्रभाव ने धार्मिक आस्थाओं पर गहरी चोट की है और होटल संस्कृति के विकास ने शाकाहार पर कुठाराघात किया है । जीवनोपयोगी सन्तुलित आहार के बहाने खान-पान की शुद्धता समाप्त होती जा रही है।

आज का आदमी प्रत्येक बात को विज्ञान की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करना चाहता है और आहार की चर्चा स्वास्थ्य के आधार पर करता है। जबतक हम अपनी धार्मिक आस्थाओं को विज्ञान की कसौटी पर कसकर प्रस्तुत नहीं करेंगे और शाकाहार को स्वास्थ्यकर सिद्ध नहीं कर सकेंगे, तबतक सफलता प्राप्त होना संभव नहीं है।

यह समस्या मात्र हमारी ही नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शनों के सभी प्रचारकों की है।

हमारे इस प्रवास में जैन सेन्टरों में तो हमारे व्याख्यान हुए ही, अनेक हिन्दू मन्दिरों में भी हमारे प्रवचन हुए । ह्यूस्टन के हिन्दू मन्दिर में जब हम व्याख्यान देने गए तो वहाँ सत्यनारायण की कथा चल रही थी ।

शताधिक श्रोताओं की उपस्थिति में जब हमने भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिकता एवं सत्यनारायण की कथा की सार्वभौमिकता पर प्रकाश डाला तो लोग गद्‌गद् हो गए।

हमने जो कुछ वहाँ कहा, उसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है :—

सत्यनारायण की कथा में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति सत्यनारायण की उपासना करता है; वह सुखी रहता है, समृद्धि उसके चरण चूमती है और जो व्यक्ति सत्यनारायण की उपासना नहीं करता है, उसे समृद्धि और सुख की प्राप्ति संभव नहीं है ।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए उसमें चार व्यक्तियों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (व्यापारी) और शुद्र (लकड़हारा)। विशेषकर व्यापारी को तीन-बार उपासना करने पर समृद्ध और उपेक्षा करने पर कंगाल होते दिखाया गया है ।

ऊपर से देखने पर यह कथा बड़ी ही साधारण-सी लगती है, पर इसके पीछे छिपे रहस्य की ओर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि यह कथा कितनी महान है ? महानता के बिना किसी कथा का इतने लम्बे काल तक जन-जन की वस्तु बने रहना संभव नहीं है ।

यह कथा किसी व्यक्ति की कथा नहीं, सत्यनारायण की कथा है। इसमें किसी व्यक्ति की उपासना की बात नहीं कही गई है, अपितु सत्य धर्म की उपासना की बात कही गई है ।

क्या कोई महान व्यक्ति या भगवान ऐसा भी कर सकता है कि जो उसकी पूजा करे, उसे मालामाल करदे और जो न करे उसे फटेहाल ?

हाँ, यह बात अवश्य है कि जो व्यक्ति जीवन में सत्य को अपनाएगा, वह सुखी होगा, समृद्ध होगा और जो व्यक्ति सत्यधर्म को भूल जायगा, सत्यधर्म (प्रामाणिक व्यवहार) की उपेक्षा करेगा, वह समृद्धि नहीं पा सकता ।

व्यापारी के सन्दर्भ को तीन बार दुहरा कर इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है; क्योंकि क्षत्रिय, ब्राह्मण और शूद्र को झूठ बोलने के कम अवसर होते हैं, व्यापारियों को अधिक । सत्य के आधार पर व्यापार करना ही व्यापारी की सत्यनारायण की पूजा है । सत्यनारायण की पूजा चारों वर्णों के व्यक्तियों ने की। इसका भी यह रहस्य है कि सत्य एक ऐसा धर्म है, जिसकी उपासना चारों वर्णों को समान रूप से करनी चाहिए ।

भाई, हम सत्यधर्म को भूल गए हैं और सत्यनारायण की पूजा पीढ़ियों से करते आ रहे हैं । वस्तुतः सत्य ही नारायण है, वही उपास्य है, आराध्य है ।

आपके हाथ में जो घड़ी है, उस पर वाटरप्रूफ लिखा है, पर क्या आपने खरीदते समय इसे पानी में डालकर देखा था? क्या खरीद लेने के बाद भी आज तक पानी में डालकर देखा है?

नहीं, तो क्यों नहीं देखा? क्योंकि आपको विश्वास है कि जो लिखा है, वह पूर्णतः सत्य है । जिसने जीवन में सत्य को अपनाया, जो व्यवहार में प्रामाणिक रहा, वह लाखों घड़ियाँ मनमानी कीमत पर बेच लेता है और जो सत्य पर कायम नहीं रहता, उसे शुद्ध घी बेचने में भी पसीना छूटता है ।

सत्य की उपासना ही समृद्धि का कारण है—यही सन्देश है सत्यनारायण की कथा का, जिसे हमने भुला दिया है। सत्य (प्रमाणिकता) को जीवन में अपनाकर अनार्य देश समृद्ध होते जा रहे हैं और हम झांझ-मंजीरे से सत्यनारायण की पूजन करने में ही मग्न हैं ।

सत्यधर्म को जीवन में अपनाने की प्रेरणा देने वाली यह कथा सचमुच ही महान है ।

भाई! भारतीय संस्कृति की प्रत्येक क्रिया के पीछे सुविचारित वैज्ञानिक कारण हैं। तुलसी के पौधे को आंगन में रखने और उसकी पानी से पूजन

करने, शनि देवता की तेल से पूजन करने और मन्दिर के गूढ़ गर्भगृह में विराजमान देवता की दीप-धूप से पूजन करने के पीछे भी रहस्य है ।

तुलसी कीटाणुनाशक औषधि है। उसका प्रत्येक आंगन में रहना आवश्यक है, वायु शुद्धि की दृष्टि से भी और सहज उपलब्धि की दृष्टि से भी। तुलसी एक पौधा है, जिसे रोजाना पानी चाहिए। वह कोई विशाल वृक्ष तो है नहीं, जो जमीन के भीतर गहराई से पानी खींच ले। अतः उसकी सुरक्षा के लिए प्रतिदिन जल से पूजन का विधान किया गया ।

पण्डितों ने बताया कि तुलसी की आराधना करने वाले स्वस्थ रहते हैं और उपेक्षा करने वाले बीमार। ठीक ही तो बताया, पर संभाल रखना ही उसकी पूजा है । बीमारियों के घर भारत देश में सौ दवाओं की एक दवा तुलसी यदि आराधना की देवी बन गई तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है? उसकी उपयोगिता ने ही उसे पूज्य बनाया है।

मन्दिर के गूढ़ गर्भगृह में, न जहाँ पर्याप्त प्रकाश रहता, न आर-पार वायु का विचरण; दर्शनार्थ जानेवालों को दीपक ले जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है तथा कीटाणुओं के शोधन के लिए धूप जलाना भी आवश्यक है। गर्भगृह की वायुशुद्धि के लिए धूप एवं पर्याप्त प्रकाश के लिए किये गये दीपक पूजा के विधान को अवैज्ञानिक कैसे कहा जा सकता है?

हाँ, यह अवश्य हुआ है कि स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक बातों को पूजा का रूप प्रदान कर दिया गया है। देह के प्रति उपेक्षा वर्तनेवाले आध्यात्मिक देश में यदि इन्हें धार्मिक रूप प्रदान न किया जाता तो इन्हें दैनिक क्रिया के रूप में अपनाने को कोई तैयार ही न होता।

दीपक से भगवान की आरती करते हैं और शादी के अवसर पर सास जमाई की भी आरती करती है। कहाँ भगवान और कहाँ जमाई? पर इसमें भी रहस्य है। भगवान की विशाल प्रतिमा को छोटे से दीपक के प्रकाश में सर्वांग देख पाना संभव नहीं है। हाथ में दीपक लेकर प्रभु की प्रतिमा

के सर्वांग पर प्रकाश डालकर दर्शन करना ही आरती है। सास भी अपनी दुलारी बच्ची को सौंपने के पहले एक बार दीपक के प्रकाश में जमाई के हर अंग को अच्छी तरह देख लेना चाहती है। आरती उतारने के बहाने ही यह सब संभव है । हमारी उपासना की हर क्रिया के पीछे वैज्ञानिक कारण विद्यमान है। कोरा क्रियाकाण्ड कहकर हंसी उड़ाने की अपेक्षा उसकी गहराई में जाना आवश्यक है।

शनि देवता की तेल से पूजन का भी एक रहस्य है। पहले आज के समान बिजली तो थी नहीं। चौराहों पर प्रकाश के अभाव में दुर्घटनाएँ बहुत होती थीं। अतः मौहल्ले वालों ने मिलकर चौराहे पर एक खम्बा बनाया और उस पर एक विशाल दीपक रखा। उसके चारों ओर लिख दिया—शनैश्चर—धीरे चलो । चौराहों पर धीरे चलने के बोर्ड तो आज भी लगते हैं। दीपक जलने को तेल चाहिए, अतः व्यवस्था दी गई कि सभी लोग शनैश्चर वाले खम्भे पर अपने हिस्से का तेल डालें। पण्डितों ने लोगों को समझाया कि शनैश्चर की तेल से पूजा न होने पर दुर्घटनाएँ घट सकती हैं, तो क्या गलत था? क्योंकि तेल के बिना प्रकाश न होगा और प्रकाश के अभाव में दुर्घटनाएँ अवश्यंभावी हैं ही।

आँगन की तुलसी को पानी की, चौराहे के दीपक को तेल की एवं गर्भगृह में विराजमान देवता के दर्शन के लिए दीपक तथा गर्भगृह की वायुशुद्धि के लिए धूप की आवश्यकता थी। इसी को लक्ष्य में रखकर ही तुलसी की पूजा जल से, शनि की तेल से और गर्भगृह में विराजमान देवता की पूजा दीप-धूप से करने का विधान किया गया।

जैन सेन्टरों मे हुए कार्यक्रमों में वाशिंगटन में लगा शिविर उल्लेखनीय है। वहाँ प्रवचन, कक्षा एवं चर्चा सब-कुछ मिलाकर चौदह घण्टे के कार्यक्रम हुए। बार-बार सुनने के लिए सभी कार्यक्रम टेप किये गये। भेद-विज्ञान, साततत्त्व, बारहभावना, जैनदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा जैसे विषयों पर गंभीर विवेचन, गहरा शिक्षण एवं ज्ञानवर्द्धक तत्त्वचर्चा हुई।

वाशिंगटन में 130 घर जैन सेन्टर के सदस्य हैं। जैन सेन्टर के द्वारा बालबोध पाठमाला भाग १-२-३ एवं वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १-२-३ अंग्रेजी भाषा की छहों पुस्तकों के सेट प्रत्येक घर पर पहुँचाए गए। आगामी वर्ष के शिविर के लिए अभी से स्थान बुक कर लिया गया है।

प्रवचनोपरान्त जो प्रश्नोत्तर होते थे, उनमें तात्त्विक प्रश्नों के साथ-साथ शाकाहार संबंधी प्रश्न भी प्रायः सर्वत्र आते थे। शाकाहार के विरुद्ध लौट-फिर कर एक ही तर्क प्रस्तुत किया जाता था कि घास-पात में शक्ति नहीं होती।

शाकाहार और सदाचार के संबंध में जो विश्लेषण हमने प्रस्तुत किया, उसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है :—

मांसाहारी लोग शाकाहारी पशुओं का ही मांस खाते हैं, मांसाहारियों का नहीं। कुत्ते और शेर का मांस कौन खाता है? कटने को तो बेचारी शुद्ध शाकाहारी गाय-बकरी ही हैं। जिन पशुओं के मांस को आप शक्ति का भण्डार माने बैठे हैं, उन पशुओं में वह शक्ति कहाँ से आई है?—यह भी विचार किया है कभी?

भाई, शाकाहारी पशु जितने शक्तिशाली होते हैं, उतने मांसाहारी नहीं। शाकाहारी हाथी के समान शक्ति किसमें है? भले ही शेर छल-बल से उसे मार डाले, पर शक्ति में वह हाथी को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। हाथी का पैर भी उसके ऊपर पड़ जावे तो वह चकनाचूर हो जायगा, पर वह हाथी पर सवार भी हो जावे तो हाथी का कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं।

शाकाहारी घोड़ा आज भी शक्ति का प्रतीक है। मशीनों की क्षमता को आज भी हार्सपावर से नापा जाता है।

शाकाहारी पशु सामाजिक प्राणी हैं, वे मिलजुल कर झुण्डों में रहते हैं, मांसाहारी झुण्डों में नहीं रहते। एक कुत्ते को देखकर दूसरा कुत्ता भौंकता ही है। शाकाहारी पशुओं के समान मनुष्य भी सामाजिक प्राणी है, उसे

मिलजुल कर ही रहना है, मिलजुल कर रहने से ही सम्पूर्ण मानव जाति का भला है। मांसाहारी शेरों की नस्लें समाप्त होती जा रही हैं, उनकी नस्लों की सुरक्षा करनी पड़ रही है; पर शाकाहारी पशु हजारों की संख्या में मारे जाने पर भी समाप्त नहीं हो पाते। शाकाहारियों में जबरदस्त जीवन-शक्ति होती है।

मनुष्य के दांतों और आंतों की रचना शाकाहारी प्राणियों के समान है, मांसाहारियों के समान नहीं। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी ही है। मनुष्य स्वभाव से दयालु प्रकृति का प्राणी है। यदि उसे स्वयं मारकर मांस खाना पड़े तो १0 प्रतिशत लोग भी मांसाहारी नहीं रहेंगे। जो मांस खाते हैं, यदि उन्हें वे बूचड़खाने दिखा दिए जायें, जिनमें निर्दयतापूर्वक पशुओं को काटा जाता है तो वे जीवन भर मांस छुयेंगे भी नहीं। मांस के वृहद उद्योगों ने मांसाहार को बढ़ावा दिया है। यदि टी.वी. पर कत्लखाने के दृश्य दिखाए जावें तो मांस की बिक्री आधी भी न रहे।

मांसाहारी पशु दिन में आराम करते हैं और रात में खाना खोजते हैं, शिकार करते हैं; पर शाकाहारी दिन में खाते हैं और रात में आराम करते हैं। जब शाकाहारी पशुओं के भी सहज ही रात्रिभोजन त्याग होता है तो फिर मनुष्य का रात्रि में भोजन कहाँ तक उचित है?

इस पर एक भाई बोले—आजकल तो शाकाहारी पशु भी रात को खाने लगे हैं, हमने अनेक गायों को रात्रि में खाते देखा है।

हमने कहा—हाँ, खाने लगे हैं, अवश्य खाने लगे हैं, आपकी संगति में जो पड़ गए हैं। आपने उन्हें भी विकृत कर दिया है। जब किसी पालतू पशु को आप दिन में भोजन दें ही नहीं, रात में ही दें, तो बेचारा क्या करेगा? किसी वनविहारी स्वतंत्र शाकाहारी पशु को रात्रि में भोजन करते देखा हो तो बताइए?

भाई, मनुष्य और शाकाहारी पशु प्रकृति से दिवाहारी ही होते हैं । अतः जैनधर्म का रात्रिभोजन त्याग का उपदेश प्रकृति के अनुकूल एवं पूर्ण वैज्ञानिक है ।

रात्रिभोजन त्याग के विरुद्ध एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि दो भोजनों के बीच जितना अन्तर रहना चाहिए, दिन के भोजन में वह नहीं मिलता। प्रातः ९-१० बजे खाया और शाम को फिर ४-५ बजे खा लिया । इसप्रकार प्रातः से सायं के भोजन में मात्र ७ घंटे का ही अन्तर रहा और शाम से प्रातः के भोजन में १७ घंटे का अन्तर पड़ जाता है ।

इस तर्क का उत्तर देते हुए हमने कहा—

"आपकी मोटर रात्रि को कितना पेट्रोल खाती है?"

"बिल्कुल नहीं।"

"क्यों?"

"क्योंकि वह रात में चलती ही नहीं है, गैरेज में रखी रहती है। गैरेज में रखी मोटर पेट्रोल नहीं खाती।"

"भाई यही तो हम कहना चाहते हैं, जब आदमी चलता है, श्रम करता है, तब उसे भोजन चाहिए। जब वह आराम करता है, तब उसे उतना भोजन नहीं चाहिए, जितना कि कार्य के समय । भाई, आपको आराम चाहिए, आपके शरीर को आराम चाहिए, आपकी आँखों को आराम चाहिए; इसीप्रकार आपकी आंतों को भी आराम चाहिए । यदि उसे पर्याप्त आराम न देंगे तो वह कबतक काम करेंगी? मशीन को भी आराम तो चाहिए ही। अतः रात्रिभोजन प्रकृति के विरुद्ध ही है।"

डॉक्टर लोग कहते हैं—सोने के चार घंटे पूर्व भोजन कर लेना चाहिए । जब आप १० बजे खाना खाएंगे तो सोएंगे कब?

रात्रिभोजन त्याग के समान पानी छानकर पीना भी विज्ञान-सम्मत ही है, पानी की शुद्धता पर जितना आज ध्यान दिया जाता है, उतना कभी नहीं दिया गया। अतः आज का युग तो हमारे इस सिद्धान्त के पूर्णतः अनुकूल है । स्वस्थ जीवन के लिए स्वच्छ पानी आवश्यक ही है ।

— इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार एवं जैन-विचार प्रकृति के अनुकूल हैं, पूर्णतः वैज्ञानिक हैं, आवश्यकता उन्हें सही एवं सशक्त रूप में प्रस्तुत करने की है ।

हमारी संपूर्ण यात्रा का संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है :—

हमारी इस वर्ष की यह यात्रा एन्टवर्प (वेल्जियम) से आरम्भ हुई । इस यात्रा में मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी श्रीमती गुणमाला एवं मेरे प्रिय मित्र श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर भी थे । गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी बहुत लोग साथ जाने के इच्छुक थे, पर गत वर्ष के अनुभव के आधार पर इस वर्ष अकेले जाने में ही भलाई प्रतीत हुई ।

धर्मप्रचार और घूमना—दोनों विरोधी कार्य हैं। हम अपना सम्पर्ण कार्यक्रम धर्मप्रचार की दृष्टि से बनाना चाहते हैं और साथ जानेवालों को घूमने की भी इच्छा रहती है, तथा कुछ लोग तो मात्र घूमने के उद्देश्य से ही साथ हो जाते हैं। दूसरे—जिन लोगों ने हमें यहाँ बार-बार सुना है, वे भी सुनने की अपेक्षा घूमने में अधिक रस लेते हैं। धर्मप्रचार और घूमने के स्थान भी अलग-अलग हैं; अतः कार्यक्रम गड़बड़ा जाता है।

हम तो जैन बन्धुओं के घर ठहरते हैं, पर साथियों को होटल में ठहरने की व्यवस्था करनी होती हैं; क्योंकि अधिक लोगों को घरों में ठहराना सम्भव नहीं होता । इस स्थिति में हमारा साथियों से सम्पर्क भी कट जाता है ।

एन्टवर्प में हम निरुपम मुकुन्दभाई खारा के घर ठहरे। उनके सद्प्रयत्नों से एन्टवर्प का कार्यक्रम आशा से अधिक सफल रहा । वहाँ एक सौ छह लोग प्रवचन सुनने आए थे । एक घंटा 'अहिंसा' पर व्याख्यान

होने के बाद प्रश्नोत्तर चले। साहित्य भी सभी लोग ले गए। इसके पूर्व निरुपम खारा के घर तीन दिन तक चर्चा एवं बच्चों की कक्षा का कार्यक्रम चला । बच्चों की कक्षा गुणमाला भारिल्ल ने ली, जिसमें उन्होंने पाठमाला भाग १ के चार पाठ पढ़ाये। २७ छात्र पढ़ने आते थे ।

एन्टवर्प में १५० घर पालनपुरी जैनों के हैं, जो सभी हीरे के व्यापारी हैं ।

इसके बाद लन्दन पहुँचे, वहाँ २६ जून, १९८५ से ३० जून, १९८५ तक प्रतिदिन नवनाथ भवन में भेदविज्ञान और आत्मानुभूति जैसे गम्भीर विषयों पर मार्मिक प्रवचन हुए ।

वहाँ हमारे प्रवचनों के कैसेट तत्काल तैयार करके बिक्री की व्यवस्था की गई थी, जिसमें सैकड़ों कैसेट बिके ।

लन्दन से साठ मील दूर एक 'लिस्टर' नामक नगर है। वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर बन रहा है। मन्दिर बहुत विशाल है; पर चर्च खरीद कर बनाया जा रहा है, अतः उसका स्वरूप बाहर से मन्दिर जैसा नहीं लगता। उसमें एक कमरे में दिगम्बर प्रतिमा भी विराजमान होगी। इस मन्दिर में भी हमारा एक व्याख्यान हुआ।

इसप्रकार लन्दन में भरपूर धर्मप्रभावना कर हम २ जुलाई को न्यूयार्क पहुँचे। वहाँ ७ जुलाई तक ठहरे। 'सिद्धाचलम्' में बच्चों के शिविर का उद्घाटन ६ जुलाई को था, जिसमें हमारा व्याख्यान हुआ। 'सिद्धाचलम्' के बारे में हम गत वर्ष विस्तार से लिख चुके हैं। जैन इतिहास की दृष्टि से यह स्थान भविष्य में निश्चित ही ऐतिहासिक महत्त्व का साबित होगा।

६ जुलाई की शाम को हमारा व्याख्यान न्यूजर्सी जैन सेन्टर में था और ७ जुलाई रविवार को दोपहर में न्यूयार्क जैन सेन्टर में प्रवचन रखा गया था । ३ व ४ जुलाई को निर्मल दोशी के घर एवं ५ जुलाई को डॉ. पाण्ड्या के घर तत्त्वचर्चा के कार्यक्रम रखे गए थे ।

प्रत्येक प्रवचन और चर्चा टेप तो किए ही जाते थे । जहाँ भी हम ठहरे, वहाँ गतवर्ष के टेप लोगों के घरों में थे और सुने जाते थे । वहाँ लोग काम पर जाते समय कार में टेप लगा लेते हैं और सुनते जाते हैं । सभी के ऑफिस का रास्ता लगभग एक घंटे का तो होता ही है । अतः उन्हें पढ़ने की अपेक्षा सुनने में अधिक सुविधा रहती है । डिट्रोयट में लक्ष्मीचन्दभाई ग्रोगरी ने तो हमें पुराना टेप सुनाकर मांग की कि हमें तो ऐसा गहरा व्याख्यान चाहिए । साथ में यह भी बताया कि हम आपके इस व्याख्यान को पन्द्रह बार सुन चुके हैं ।

बारहभावना के १५ कैसेट हम भेंट देने के लिए ले गए थे । जहाँ-जहाँ ठहरे, लगभग सभी जगह वे भेंट किए । उनसे सैकड़ों टेप उतार लिए गए । इसप्रकार बारहभावना के कैसेट भी घर-घर पहुँच गए और दफ्तर जाते समय सिनेमा के गीतों के स्थान पर वे बजने लगे हैं ।

अमेरिका में ९० मिनट वाले कैसेट अधिक चलते हैं । अतः डॉ. मनोज धरमसी भाई ने वाशिंगटन के शिविर में कहा कि ४५ मिनट की बारह भावना है, ४५ मिनट का एक प्रवचन भी आप इन्हीं बारह भावनाओं पर कर दीजिए । इसप्रकार ९० मिनट की कैसेट तैयार की गई और उसकी प्रतिलिपियाँ भी खूब हुईं।

जैनमन्दिर की स्थापना का रहस्य बताते हुए न्यूजर्सी में एक भाई ने हमें बताया कि मेरा ७-८ वर्ष का बच्चा एक दिन बोला –

"क्यों पापा, क्या अपना कोई गॉड नहीं है, क्या अपना कोई चर्च नहीं है, क्या अपनी कोई प्रेयर नहीं है ? यदि नहीं है तो मैं अपने दोस्त के साथ उसके चर्च में ही चला जाऊँ ?"

बालक के इस अबोध उपदेश ने उन्हें मन्दिर बनाने के लिए प्रेरित किया था।

बालकों को घर, माँ-बाप भाई-बहिन के समान मन्दिर, देवता और प्रार्थनाएं भी चाहिए । आज हम बालकों को दोष देते हैं कि उनमें धार्मिक संस्कार

नहीं हैं, पर कभी यह भी सोचा कि आपने उनमें धार्मिक संस्कार डाले ही कब हैं ? होंगे कहाँ से ? बालक स्वभाव से आस्तिक ही होते हैं । हमारी उदासीनता से ही वे नास्तिक बन जाते हैं ।

अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने बालकों में अपनी संस्कृति, सभ्यता, दर्शन, आचार, व्यवहार के संस्कार आरम्भ से ही डालें । उन्हें ऐसा वातावरण प्रदान करें कि जिसमें उनके आध्यात्मिक विकास में कोई कमी न रहे ।

८ जुलाई, १९८५ को हम न्यूयार्क से सीधे लासएंजिल्स पहुँचे । वहाँ हम रमेशभाई दोशी के यहाँ ठहरे । एक व्याख्यान उनके घर एवं एक व्याख्यान डॉ. मणीभाई मेहता के घर पर हुआ ।

लासएंजिल्स से ११ जुलाई को सान्फ्रासिस्को पहुँचे । वहाँ श्री हिम्मतभाई डगली के घर ठहरे । उन्होंने यह अनुभव किया कि कार्यक्रम लेट बनने से समुचित प्रचार नहीं हो पाता । यदि कार्यक्रम बहुत पहले निश्चित हो जाये तो इससे चौगुनी जनता लाभ ले सकती है । अतः उन्होंने रात के दो बजे तक आगामी वर्ष का एक अनुमानित कार्यक्रम तैयार किया ।

धार्मिक प्रचार-प्रसार की दृष्टि से अमेरिका प्रवास का कार्यक्रम बनाना अत्यन्त कठिन काम है, क्योंकि प्रत्येक नगर वाला यही चाहता है कि उसे शनिवार-रविवार मिले । अभी यह तो संभव नहीं है कि हम दो दिन प्रवचन करें और पाँच दिन आराम से बैठे रहें । ऐसी स्थिति में खींचतान बहुत होती है । अतः आगामी कार्यक्रम बनाते समय एक बात सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर ली गई कि कार्यक्रम ऐसा बनाया जावे कि प्रत्येक नगर को एक शनिवार या रविवार मिल जावे ।

इसप्रकार एक नगर में गुरु, शुक्र व शनि रखे गए और दूसरे नगर में रवि, सोम और मंगल । बुधवार का दिन और शनिवार की रात यात्रा के लिए रखी गई । इसे प्लेन के कार्यक्रमों से सेट करना बड़ी टेढ़ी खीर थी,

पर हिम्मतभाई ने हिम्मत नहीं हारी और सुन्दरतम कार्यक्रम सेटकर फैडरेशन के अध्यक्ष डॉ. सालगिया के पास भेज दिया । उसकी कुछ कापियां हमें भी दीं । हमने आगे के प्रवास में जहाँ भी इसकी चर्चा की, सभी ने दिल खोलकर स्वागत किया ।

इसमें कई नगर ऐसे भी हैं, जो आपस में मिलकर किसी एक ही स्थान पर केम्प का आयोजन करने की सोच रहे हैं । आशा है कि आगामी वर्ष वाशिंगटन जैसे अनेक शिविर लगेंगे।

सान्फ्रांसिस्को में एक व्याख्यान वैदिकधर्म समाज के मन्दिर में एवं एक व्याख्यान प्रोफेसर प्रकाश जैन के घर पर हुआ । सान्फ्रांसिस्को से हम ह्युस्टन पहुँचे, वहाँ एक प्रवचन हिन्दूवर्शिप मन्दिर में तथा एक प्रवचन जैन सोसाइटी के हॉल में हुआ । वहाँ से हम डलास और डलास से क्लीवलेन्ड पहुँचे। दोनों ही जगह अच्छे कार्यक्रम हुए ।

इसके बाद हम डिट्रोयट पहुँचे । यहाँ यूनिटेरियल चर्च हॉल के अतिरिक्त अनन्त कोरड़िया, राज जैन एवं कुलीन शाह के घर भी एक-एक प्रवचन और चर्चा के कार्यक्रम रखे गए ।

वहाँ से टोरन्टो पहुँचे । टोरन्टो में तीन सौ से भी अधिक जैन परिवार रहते हैं । यहाँ हिन्दीभाषी जैन भी बहुत हैं । यहाँ जैन मन्दिर की स्थापना भी हो चुकी है । मन्दिर के हॉल में हमारे प्रवचनों के लगातार तीन दिन तक कार्यक्रम रखे गए, जो बहुत प्रभावक सिद्ध हुए ।

टोरन्टो से हम रोचेस्टर पहुँचे । वहाँ हमारे कार्यक्रम को एक पिकनिक का रूप दिया गया था, जिसमें सम्पूर्ण जैन समाज उपस्थित था, वहाँ अहिंसा पर मार्मिक प्रवचन हुआ । दूसरे दिन इण्डियन कम्यूनिटी हॉल में प्रवचन हुआ । वहाँ इण्डियन कम्यूनिटी ने एक बहुत बड़ा स्थान लिया है, जिसमें तीन तो बड़े-बड़े हॉल हैं, जिनमें हजारों लोग एक साथ बैठ सकते हैं । अनेक कमरे और भी हैं ।

वहाँ से हम बोस्टन पहुँचे, जहाँ हम पहले दिन बुस्टर में संजय शाह के घर प्रवचन-चर्चा का कार्यक्रम रखा गया । दूसरे दिन जैन सेन्टर के हॉल में प्रवचन चर्चा रखी गई । तीसरे दिन डॉ. विनय जैन के घर चर्चा का कार्यक्रम हुआ ।

अन्त में हम सिनसिनाटी पहुँचे, जहाँ जैन फैडरेशन के महामंत्री सुलेख जैन रहते हैं । वहाँ हिन्दू मन्दिर के हॉल में प्रवचन हुआ ।

लगभग प्रत्येक स्थान पर एक व्याख्यान तो 'आधुनिक विज्ञान और धर्म' इस विषय पर हुआ ही । इस विषय पर हमने जो कुछ कहा, उसका संक्षिप्त सार कुछ इसप्रकार है –

आज के वैज्ञानिक युग में धर्म को भी विज्ञान की कसौटी पर कसकर देखा जाने लगा है । जिस विज्ञान की उन्नति पर हम फूले नहीं समाते हैं, उसने हमें क्या दिया है ? – इसपर भी कभी विचार किया ? इसने जहाँ एक ओर हमें छोटी-मोटी सुविधाएँ एवं सम्पन्नता प्रदान की है; वहीं दूसरी ओर विनाश के कगार पर भी ला खड़ा किया है, हमारी सुख-शान्ति छीन ली है । सुविधाओं के नाम पर आज हमने शयनागारों में ही स्नानागार और शौचालय बना लिए हैं । अब इससे आगे और क्या होगा ? शयनागार में तो शौचालय आ ही गए हैं, अब शैया पर ही आना शेष है ।

विज्ञान की कृपा से हमने कितनी ही सम्पत्ति एवं सुविधाएँ क्यों न जुटा ली हों, पर आज हमारी नींद हराम हो गई है । वातानुकूलित शयनागारों में भी हमें नींद क्यों नहीं आती ? हमारा जीवन इतना तनावग्रस्त क्यों होता जा रहा है कि बिना गोलियों के हम सो भी नहीं सकते । अमेरिका जैसे समृद्ध देश में जीवन-रक्षक दवाओं की अपेक्षा नींद की गोलियाँ अधिक बिकती हैं ।

इस तनावग्रस्त जीवन का उत्तरदायी भी यह विज्ञान ही है, जिसने मात्र विनाश की सामग्री ही तैयार नहीं की, अपितु प्रचार व प्रसार के साधन

भी इतने उपलब्ध करा दिए कि हम अपने वातानुकूलित शयनागार में लेटे-लेटे ही दूरदर्शन पर अपरिमित विनाशलीलाओं के दृश्य देखते रहते हैं, समाचार सुनते रहते हैं । आज हमारी स्थिति उस बकरे के समान हो रही है, जिसे सर्व सुविधाएँ तो प्राप्त हैं, पर जो शेर के सामने बँधा है, जिसे अपने जीवन का क्षण भर भी भरोसा नहीं है। शेर के सामने खड़ा रहकर वह अनुकूल भोजन का आनन्द कैसे ले सकता है ?

चार विद्वान उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने विषय के विशेषज्ञ होकर घर वापिस जा रहे थे । उनमें एक अस्थिविशेषज्ञ था, दूसरा चर्मविशेषज्ञ, तीसरा जीवविज्ञानी और चौथा आध्यात्मिक विद्या में पारंगत था । मार्ग में पड़े क्षत-विक्षत मृत सिंह को देखकर उन्हें अपनी विद्या की परीक्षा करने की इच्छा हुई । अस्थिविशेषज्ञ ने हड्डियाँ यथावस्थित कर दीं, चर्म विशेषज्ञ ने मास-मज्जा यथास्थान व्यवस्थित कर चमड़ी से वेष्ठित कर दिया, पर जब जीवविज्ञानी उसमें जीव डालने लगा तो आत्मज्ञ ने कहा –

"हम लोगों को यह विद्या दुष्ट सिंह को जीवित करने के लिए प्राप्त नहीं हुई है, यह विद्या उन परमोपकारी महापुरुषों को जीवनदान देने के लिए है, जिनके द्वारा जगत का कुछ भला होता हो ।"

पर विद्या के मद मे मदोन्मत्त लोगों ने उसकी एक न सुनी । आत्मज्ञ उनकी संगति छोड़कर वृक्ष की शाखा पर सवार हुआ कि उन लोगों ने सिंह को जीवित कर दिया । परिणामस्वरूप सिंह ने उन्हें अपना आहार बना लिया ।

यही हाल आज धर्म के बिना विज्ञान का हो रहा है । धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं, किन्तु मार्गदर्शक है । धर्म के मार्गदर्शन में चलने वाले विज्ञान का विकास विनाश नहीं, निर्माण करेगा । घोड़ा और घुड़सवार एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक हैं; घुड़दौड़ में दौड़ेगा तो घोड़ा ही, जीतेगा भी घोड़ा ही, पर घुड़सवार के मार्गदर्शन बिना घोड़े का जीतना संभव नहीं । दौड़ना तो घोड़े को ही है, पर कहाँ दौड़ना, कब दौड़ना, कैसे दौड़ना ? –

इस सबका निर्णय घोड़ा नहीं, घुड़सवार करेगा । योग्य घुड़सवार के बिना घोड़ा उपद्रव ही करेगा, महावत के बिना हाथी विनाश ही करेगा, निर्माण नहीं। जिसप्रकार घोड़े को घुड़सवार और हाथी को महावत के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, उसीप्रकार विज्ञान को धर्म के मार्गदर्शन की आवश्यकता है । किन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म को अपनी उपयोगिता और आवश्यकता की सिद्धि के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ रहा है ।

जो कुछ भी हो, यदि हमें सुख और शान्ति चाहिए तो धर्म को अपने जीवन का अंग बनाना ही होगा ।

विज्ञान की उपलब्धियों को भी नकारने की आवश्यकता नहीं है; उनके उपयोग में, प्रयोग में सावधानी की आवश्यकता अवश्य है । अणुबम विनाश भी कर सकते हैं और निर्माण भी; देश को जगमगा भी सकते हैं; हरा-भरा भी कर सकते हैं; पर सबकुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम उसका उपयोग शान्ति के लिए करते हैं या विनाश के लिए ।

विज्ञान से प्राप्त सुविधाओं को भी नकारने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जिस टी.वी. और वी.सी.आर. के सहयोग से आप कुत्सित चित्र देखते हैं, उन्हीं के सहयोग से घर बैठे आध्यात्मिक प्रवचन भी देख-सुन सकते हैं; जिस टेपरिकार्डर पर अश्लील गीत सुनते हैं, उन्हीं पर आध्यात्मिक गीत भी सुने जा सकते हैं । आवश्यकता धर्म के मार्गदर्शन में दिशा परिवर्तन की है ।

भाई ! विज्ञान की इस दौड़ को पीछे ढकेलना संभव नहीं है, इसकी आवश्यकता भी नहीं है; आवश्यकता इसके सदुपयोग की है, जो धर्म के मार्गदर्शन बिना संभव नहीं है ।

युद्ध के मैदान में सैनिक लड़ते हैं, देश की सुरक्षा के लिए शक्ति का संग्रह भी सैनिकों में ही किया जाता है, पर लड़ाई छेड़ने का निर्णय सैनिकों को नहीं सौंपा जा सकता, क्योंकि जो व्यक्ति निरन्तर लड़ने का अभ्यास

करता हो, वह नहीं लड़ने का निर्णय कैसे ले सकता है ? उसे तो अपनी शक्ति के प्रदर्शन का अवसर चाहिए।

एक पहलवान वर्षभर दिन-रात श्रम करता है, क्योंकि उसे विश्वविजेता बनना है । उसके दिमाग में एक कल्पना है कि जब मैं विश्वविजेता बनूँगा, तब विश्व के सभी समाचारपत्रों के मुखपृष्ठ पर मेरा ही चित्र होगा; दूरदर्शन और आकाशवाणी पर भी मैं ही छाया रहूँगा । उससे कहा जाय कि प्रतियोगिताएँ स्थगित कर दी गई हैं, तो उसका चित्त इस बात को सहजभाव से कैसे स्वीकार कर सकता है ? इसीप्रकार निरन्तर लड़ने का अभ्यास करने वाले, नहीं लड़ने का निर्णय कैसे ले सकते हैं ?

अतः विज्ञान के उपयोग की खुली छूट वैज्ञानिकों को नहीं दी जा सकती, धार्मिकों का मार्गदर्शन आवश्यक है । यदि धर्म और विज्ञान मिलकर काम करेंगे तो दोनों का भला होगा, जगत का भी भला होगा । धर्म और विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक ही हैं ।

हमारे इस विश्लेषण को सर्वत्र सराहा गया ।

इसप्रकार अनेक उपलब्धियों से समृद्ध आठ सप्ताह का यह विदेश प्रवास १२ अगस्त को हमारे न्यूयार्क से रवाना होने पर समाप्त हुआ और हम १४ अगस्त, १९८५ को जयपुर आ पहुँचे ।

मैंने गतवर्ष लिखा था कि मैं अपनी इस यात्रा को यू.के. और यू.एस.ए. में गहरे तत्त्वज्ञान के भवन का शिलान्यास समझता हूँ । हमारी कल्पना का भव्य भवन वहाँ खड़ा हो पाता है या नहीं – यह तो भविष्य ही बतायेगा, उसके बारे में कुछ भी कहना न तो संभव ही है और न उचित ही, पर आज विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि हमारी भावना अवश्य सफल होगी ।

भगवान महावीर की वीतराग वाणी विश्व के कोने-कोने में गुंजायमान हो – इस पावन भावना से इस यात्रा विवरण से विराम लेता हूँ ।

३

सुखी होने का सच्चा उपाय

"निःस्वार्थभाव और पवित्र हृदय से सही दिशा में किया गया सतत् प्रयास कभी असफल नहीं होता" — मेरी यह दृढ़ आस्था मुझे सुविचारित मार्ग पर निरन्तर चलते रहने के लिए सतत् प्रेरित करती रहती है ।

सफलता उत्साह को बढ़ाती है और असफलता उत्साह को भंग करती है । सफलता के संगम से अन्तर की सतत् प्रेरणा जब उल्लसित हो उठती है तो सही दिशा में किए गए सत्प्रयासों में एक अद्‌भुत गति आ जाती है ।

वीतरागी तत्त्व के प्रचार-प्रसार के पावन उद्देश्य से यू.के. (इंगलैंड) और यू.एस.ए. (अमेरिका-कनाडा) की लगातार की गई मेरी यह तीसरी विदेशयात्रा अन्तर की इसी उल्लसित प्रेरणा का परिणाम थी ।

इस वर्ष हम जहाँ भी गये, सर्वत्र विशुद्ध अध्यात्म का ही प्रतिपादन किया, क्योंकि अध्यात्म के लिए सम्पूर्णतः समर्पित अपने जीवन का एक पल भी व्यर्थ की चर्चाओं में बर्बाद करना इष्ट प्रतीत नहीं होता ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि विशुद्ध अध्यात्म की गंभीर चर्चा में वहाँ के लोगों ने जैसी गहरी रुचि ली, जिस उत्साह और मनोयोग से सुना तथा जिसप्रकार प्रफुल्लित होकर सराहा; उसकी हमने कल्पना भी न की थी ।

सर्वाधिक प्रसन्नता की बात तो यह है कि यह सब-कुछ क्षणिक साबित नहीं हुआ, अनेक लोगों पर इसका स्थाई प्रभाव पड़ा है ।

उक्त सन्दर्भ में डिट्रोयट (मिसीगन-अमेरिका) से प्राप्त एक पत्र के कतिपय अंश दृष्टव्य हैं । ध्यान रहे यह पत्र जुलाई, १९८६ में सम्पन्न शिविर

में सम्मिलित एक भाई अनन्त कोरड़िया का है, जिसे उन्होंने दो माह बाद लिखा है ।

"इसबार कैम्प में आपसे अध्यात्म और स्वाध्याय के विषय में जो सुनने को मिला, उसे हम सब अकसर मिलकर खूब आनन्द से याद करके ताजा करते हैं और हृदय में एक अजीब आनन्द का अनुभव करते रहते हैं । आपके प्रवचन के समय आप अपने ज्ञान अनुभव और तत्त्व या अध्यात्म में खुद के अन्तःकरण का आनन्द हम लोगों को बाँटने का चाव महसूस करने मात्र से मेरा हृदय आनन्दविभोर हो उठता था । काश आपके चरणों में बैठकर हर समय कुछ न कुछ सुनने-समझने का मौका मिलता रहता; खासतौर से आत्मा, स्वानुभव और ध्यान के बारे में सुनने और समझने की और स्वानुभव पाने की हृदय में जो तड़फन हुई है, उसको कैसे शान्त करें? खैर छोटे मुँह से बड़ी बात न हो जाय – इस डर से न तो पत्र ही लिखा और न ज्यादा बात ही कर पाया, अगलीबार देखेंगे ।

स्वानुभव के अधिकार के योग्य बनने को सबसे पहले स्वाध्याय-मनन-चिन्तन करके ध्यान का सतत् अभ्यास करने तथा समाधि में कैसे उतरा जाय । उसी की खोज में ग्रन्थों के पढ़ने में, खोजने की कोशिश में लगा रहता हूँ । शायद गुरुजी का सतत मार्गदर्शन हो तो बहुत-बहुत फर्क पड़ता । खैर अब तो पूज्य कानजी स्वामी का प्रवचन संग्रह, वृहदद्रव्यसंग्रह, ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थ ये ही मेरे गुरु हैं । तत्त्वार्थसूत्र पढ़कर अब मैंने प्रसमरति मंगाया है । अब तो ज्ञानार्णव का स्वाध्याय चाव से पूरा करना है । पू. कानजी स्वामी के प्रवचन-संग्रह पढ़ने से हृदय आनंदविभोर हो उठा।

हम लोगों के कुछ मित्र परिवार (ग्रोगरी, चौकसी आदि) अध्यात्म के इतने उत्सुक हो चुके हैं कि समय मिलते ही निवृत्तिमय जीवन, अध्यात्म, स्वाध्याय और ध्यान में लगाने के लिए समय और स्थान की खोज में भारत आयेंगे । अब दूसरी तरफ से अन्तःकरण पूरा मर चुका है ।"

ध्यान रहे – उक्त व्यक्ति अमेरिका में बारह साल से रहते हैं, श्वेताम्बर जैन हैं और पू. गुरुदेव श्री कानजी स्वामी से इनका कभी कोई सम्पर्क नहीं रहा है । इनकी धर्मपत्नी जयाबेन भी धर्मरुचि सम्पन्न महिला हैं और ५ अक्टूबर से १९ अक्टूबर, १९८६ तक जयपुर में लगनेवाले शिविर में सम्मिलित होने अमेरिका से आई थीं । अपनी माँ, मामा और मामी के साथ १५ दिन रहकर पूरा-पूरा लाभ लेकर कल (२०-१०-८६) ही गई हैं । वे मलाड़ (बम्बई) में लगने वाले शिविर में भी भाग लेंगी ।

यही स्थिति इनके साथी ग्रोगरी, चौकसी आदि परिवारों की है। इसप्रकार की रुचि सम्पन्न थोड़े-बहुत लोग, जहाँ-जहाँ हम गये, लगभग सभी जगह हैं । और भी ऐसे अनेक पत्र हमें प्राप्त हुए हैं, जिनसे यू.के. और यू.एस.ए. में वीतरागी जैन तत्त्वज्ञान के पदचिन्ह उभरते दिखाई पड़ते हैं ।

जिन-अध्यात्म के जिस मूल स्वरूप को हमने लगभग सभी जगह अपनी सरल भाषा और रोचक शैली में सोदाहरण प्रस्तुत किया, उसका सार इसप्रकार है :–

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कहता है कि सभी आत्मा स्वयं भगवान हैं । स्वभाव से तो सभी भगवान हैं ही, यदि सम्यक्पुरुषार्थ करें अर्थात् अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जावें, रम जावें तो प्रकटरूप से पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं ।

जब हम यह बात जगत के सामने रखते हैं तो कुछ लोग कहते हैं कि आप तो बहुत बड़ी-बड़ी बातें करते हैं; पहले हम इन्सान तो बन जावें, फिर भगवान बनने की बात सोचेंगे । पर भाई ! यह बात उतनी बड़ी है नहीं, जितनी बड़ी इसे दुनिया समझती है; क्योंकि भगवान बनना और मोक्ष में जाना एक ही बात तो है ।

जैनधर्म में तो उन्हें ही भगवान कहते हैं, जो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । हमें मोक्ष तो प्राप्त करना है और भगवान नहीं बनना है – इसका क्या मतलब है ?

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि हमें मोक्ष में भी नहीं जाना है, हमें तो कोई ऐसा रास्ता बताओ, जिससे इस संसार में रहते हुए ही सुखी हो जावें । पर भाई, ऐसा रास्ता है ही नहीं, तो क्या बताया जाय ? यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकरादि बड़े लोग इस संसार को क्यों छोड़ते ? कहा भी है –

"यदि संसार विषैं सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागें ।
काहे को शिव साधन करते संयम सों अनुरागें ।।"

भाई ! मोक्ष में नहीं जाना है – ऐसा क्यों कहते हो ? जैनधर्म तो मोक्षमार्ग का ही दूसरा नाम है । जैनधर्म के सबसे बड़े शास्त्र का नाम ही मोक्षशास्त्र है, जिसे जैनियों के सभी सम्प्रदाय एक स्वर से स्वीकार करते हैं; जिसे जैनियों की बाइबिल कहा जाता है, जैनियों की गीता कहा जाता है, जैनियों का कुरान कहा जाता है; ऐसे इस महाशास्त्र के पहले सूत्र में ही मोक्ष का मार्ग बताया गया है । कहा गया है कि –

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणिमोक्षमार्गः – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है ।"

हमारे सबसे बड़े आचार्य ने अपने सबसे बड़े ग्रन्थ में सबसे पहले जो वाक्य कहा, उसमें उन्होंने हमें मोक्षमार्ग ही सुझाया है । उन्होंने हमें मोक्ष का मार्ग मोक्ष में जाने के लिए बताया है या नहीं जाने के लिए ? यदि जाने के लिए ही उन्होंने हमें मोक्षमार्ग बताया है तो फिर हम मोक्ष में जाने से क्यों इन्कार करते हैं? यह तो सम्पूर्ण जैनधर्म से ही इन्कार करना है । इन्कार करने से पहले हम एक बार मोक्ष का सच्चा स्वरूप तो समझ लें ।

भाई ! मोक्ष तो मुक्ति को कहते हैं, दुःखों से छूटने को कहते हैं । सम्पूर्ण सुखी होने का नाम ही मोक्ष है, सच्चे सुख की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है । ऐसा जगत में कौन-सा प्राणी है,

जो दुःखों से मुक्त नहीं होना चाहता, सुखी नहीं होना चाहता ? कहा भी है –

"जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहे दुःख तें भयवन्त ।[1]

तीन लोक में जितने भी जीव हैं, वे सब सुख चाहते हैं और दुःख से छूटना चाहते हैं ।"

भाई ! दुःख से मुक्त होना, सुखी होना, मोक्ष प्राप्त करना और भगवान बनना – इन चारों का एक ही अर्थ है । पर जब यह कहा जाता है कि दुःख से बचना है, सुखी होना है, तो सभी हाँ करते हैं, पर भगवान बनने या मोक्ष में जाने की बात करते हैं तो लोगों को बड़ी बात लगती है ।

सच बात तो यह है कि हमने मोक्ष का सही स्वरूप नहीं समझा है । शास्त्रों में पढ़कर या लोगों से सुनकर ऐसा जान लिया है कि लोकाग्र में एक स्थान है, जहाँ मोक्ष में जानेवाले उलटे लटक जाते हैं; वहाँ न कुछ खाने-पीने को मिलता है और न वापिस आने की ही सुविधा है, अनन्त काल तक वहीं लटके रहना पड़ता है।

भ्रमण और खाने-पीने के अभ्यासी इस जीव को खाने-पीने से रहित एक स्थान पर रहना क्यों पसन्द आने लगा ? पर भाई ! यह तो मोक्ष की स्थिति है, स्वरूप नहीं; स्वरूप तो उसका अनन्तसुख स्वरूप है, दुःख के अभावरूप है । इसलिए भाई ! मोक्ष पाने या भगवान बनने की बात को बड़ी बात कहकर अरुचि प्रगट मत करो । अपने हित की बात जानकर रुचिपूर्वक ध्यान से सुनो, सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है; इसी में सार है और सब असार है ।

इस संकटमयी संसार में चार सार्वभौमिक सत्य हैं –

१. सभी जीव दुःखी हैं ।

---

१. पण्डित दौलतराम : छहढाला, ढाल १, छन्द २

२. दुःख से बचना चाहते हैं ।

३. दुःख से बचने का निरन्तर प्रयत्न भी करते हैं ।

४. फिर भी आजतक दुःख दूर नहीं हुआ ।

यह बात सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि हम सब दुःखी हैं; क्योंकि हम सब निरन्तर ही अपने को दुःखी अनुभव कर रहे हैं । भले ही पत्र के आरम्भ में "अत्र कुशलं तत्रास्तु" लिखते हों, पर अन्तर में अच्छी तरह जानते हैं कि न तो यहाँ ही कुशलता है और न वहाँ कुशलता होने की संभावना है । पर यह सब तो इसलिये लिखते हैं कि जब हमें मास्टरजी ने पत्र लिखना सिखाया था तो बताया था कि सबसे पहले यह लिखना । हृदय की बात तो हम इसके बाद लिखते हैं, जिसमें लिखा होता है कि पिताजी की तबीयत जब से बिगड़ी, सुधरने का नाम ही नहीं लेती है; माँ के घुटनों का दर्द भी वैसा ही बना हुआ है और अब मेरी कमर में भी दर्द रहने लगा है ।

दुःख से बचना तो सभी चाहते हैं, पर मात्र चाहने से क्या होता है ? उसके लिए कुछ प्रयत्न भी होना चाहिए । सुबह से शाम तक हमारे जितने भी कार्य देखने में आते हैं, वे सभी दुःख दूर करने के लिए ही तो होते हैं ।

प्रातः उठते हैं तो तत्काल निबटने जाते हैं । यदि पेट खाली हो जाय तो बहुत आराम अनुभव करते हैं, पर तत्काल पेट भरने के उपक्रम में लग जाते हैं । यद्यपि हम सुखी होने के लिए ही पेट खाली करते हैं और सुखी होने के लिए ही भरते भी हैं, तथापि न खाली पेट चैन पड़ती है और न भरे पेट ।

इसीप्रकार जब बैठे-बैठे थक जाते हैं तो चलने-फिरने लगते हैं और जब चलते-फिरते थक जाते हैं तो फिर बैठ जाते हैं, लेट जाते हैं; पर जब लेटे-लेटे थक जाते हैं तो फिर बैठ जाते हैं, चलने-

फिरने लगते हैं; न बैठे चैन पड़ती है, न चलते-फिरते और न लेटे-लेटे ही ।

आप कहेंगे कि क्या कोई लेटे-लेटे भी थकता है ? पर भाईसाहब! इसका पता तो आपको तब लगेगा, जब डॉक्टर बेडरेस्ट बतायेगा । जब आठ दिन तक लगातार लेटे रहना पड़ेगा, तब पता चलेगा कि लेटे-लेटे कैसे थकते हैं ?

इसप्रकार हम देखते हैं कि हमारा चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना, खाना-पीना, निबटना आदि सभी दुःख दूर करने और सुखी होने के लिए ही होते हैं । गहराई से विचार करें तो हमारी छोटी से छोटी क्रिया भी इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही होती है । जब हम एक आसन से बैठे-बैठे थक जाते हैं तो चुपचाप आसन बदल लेते हैं और हमारा ध्यान इस क्रिया की ओर जाता ही नहीं है । हम यह समझते ही नहीं हैं कि अभी हमने दुःख दूर करने के लिए कोई प्रयत्न किया है; पर हमारा यह छोटा-सा प्रयत्न भी दुःख दूर करने के लिए ही होता है ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निरन्तर प्रयत्न करने पर भी आजतक हमारे दुःख दूर नहीं हुए । इन दुःखों को दूर करने के लिए हमने जो भी उपाय किये, उनमें से एक भी उपाय कारगर साबित नहीं हुआ ।

क्या यह बात गंभीरता से विचार करने की नहीं है कि आखिर भूल कहाँ रह गई है ?

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने एक पुस्तक लिखी है – 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' । उसके 'स्प्रिट ऑफ इण्डिया' नामक अध्याय में भारतीय लोगों के अंधविश्वासों का चित्रण करते हुए लिखा है कि यदि किसी भारतीय के बच्चे को चेचक निकले तो वह उसकी शान्ति के लिए शीतला माता पर पानी ढोलेगा । पानी ढोलते-ढोलते बालक मर भी क्यों न जावे, तथापि दूसरे बालक को चेचक निकलने पर वही इलाज करेगा । इसप्रकार उसके

सात बच्चे भी क्यों न मर जावें, पर जब आठवें बालक को चेचक निकलेगी तो भी वह शीतला माता पर पानी ढोलेगा, किसी डॉक्टर या वैद्य के पास इलाज कराने नहीं जावेगा ।

तथा यदि उसे जुखाम हो जावे और वह किसी वैद्य के पास इलाज कराने के लिए जावे और वैद्य उसे तीन पुड़िया देकर कहे कि इन्हें प्रातः, दोपहर और शाम को ले लेना । पर उसे इतना धैर्य नहीं है कि तीनों पुड़िया खाये । एक पुड़िया खाने पर यदि आराम प्रतीत नहीं हुआ तो शाम को होम्योपैथिक डॉक्टर के पास पहुँच जायगा । यदि उसकी गोलियों से भी रात भर में आराम नहीं हुआ तो प्रातः एलोपेथिक डॉक्टर के पास पहुँच जावेगा ।

वैद्य-डॉक्टरों पर उसे इतना भी भरोसा नहीं है कि एक-दो दिन बंध के इलाज कराले, पर देवी-देवताओं पर उसकी आस्था अटूट है ।

आप कह सकते हैं कि यह बात आप हमें क्यों सुना रहे हैं, हम तो इसप्रकार के भारतीय नहीं हैं, हम तो इलाज के लिए वैद्य-डॉक्टरों के पास ही जाते हैं । यह बात आप उन अंधविश्वासियों को ही सुनाना । पर भाई ! हम भी तो गंभीरता से विचार करें कि कहीं हमसे भी तो उसीप्रकार की भूल नहीं हो रही है ।

हमें भूख लगती है तो खाना खा लेते हैं, प्यास लगती है तो पानी पी लेते हैं, चार-छह घंटे को थोड़े-बहुत निराकुल भी हो जाते हैं, पर चार-छह घंटे बाद वही भूख, वही प्यास, वही भयानक आकुलता ।

अनंतकाल से हम अपनी इन बीमारियों का यही इलाज करते आ रहे हैं, पर हमारी ये बीमारियां दूर नहीं हुईं; हमारी भूख, प्यास, वासनाएँ वैसी की वैसी ही बनी हुई हैं और हम बराबर वही इलाज दुहराते आ रहे हैं, वही दवायें खाते आ रहे हैं, न हम इलाज बदलने को तैयार हैं और न

डॉक्टर ही । गहराई से विचार करें कि क्या हम भी उसीप्रकार के अंधविश्वासी नहीं हैं ?

भाई, इस बात पर एक बार गंभीरता से विचार अवश्य किया जाना चाहिए ।

दवायें दो प्रकार की होती हैं – एक दर्द की दवा और दूसरी मर्ज की दवा । दर्द की दवा तो मात्र दर्द को दबा देती है, वह मर्ज को जड़ से नहीं उखाड़ती ।

एक तड़फता हुआ रोगी डॉक्टर के पास पहुँचा । उसके पेट में भयंकर दर्द था । जाँच करने पर पता चला कि उसे अपेडिक्स की बीमारी है । डॉक्टर ने कहा –

"चौबीस घंटे के भीतर ऑपरेशन होना जरूरी है, क्योंकि अपेंडिक्स अन्तिम स्थिति में है । यदि अन्दर ही बर्स्ट हो गया तो जहर सम्पूर्ण शरीर में फैल जायगा, फिर मरीज को बचाना कठिन होगा ।"

यह कहकर डॉक्टर ने उसे मार्फिया का एक इन्जेक्शन लगा दिया । मरीज को शान्ति से सोते देख उसका पुत्र बोला –

"डॉक्टर साहब ! पिताजी तो शान्ति से सो रहे हैं । उनका दर्द तो पूर्णतः गायब है, वे तो अब एकदम ठीक हैं, अब व्यर्थ ही पेट चीरने से क्या लाभ है ?"

डॉक्टर ने समझाते हुए कहा – "मार्फिया का इन्जेक्शन लगाया है, अतः शान्ति से सो रहे हैं । छह घंटे बाद देखना – जब इन्जेक्शन का असर समाप्त होगा, तब फिर वैसे ही तड़फेंगे ।"

डॉक्टर की बात को बीच में काटते हुए वह बोला – "वैसे ही क्यों तड़फेंगे ? हम दूसरा इन्जेक्शन लगवा देंगे । कितने में आता है यह इन्जेक्शन ? दस रुपये में और हर छह घंटे में लगाना होगा न ? दिन

में चार लगेंगे, चालीस रुपये रोज का खर्च है न ? हम तो चार सौ रुपये रोज खर्च कर सकते हैं, व्यर्थ में ही पिताजी का पेट क्यों चिराया जाय ?"

डॉक्टर कहने लगा – "भाई, यदि ऐसा ही करते रहे तो पिताजी दो-चार दिन में ही परलोक सिधार जायेंगे । यह कोई रोग का इलाज थोड़े ही है, यह तो मात्र दर्द की दवा है । इससे बीमारी ठीक होनेवाली नहीं है ।"

मरीज का पुत्र झुंझलाते हुए बोला – "यदि इससे बीमारी ठीक नहीं होती है तो फिर आपने यह दवा दी ही क्यों है ?"

डॉक्टर ने प्रेम से समझाते हुए कहा –"भाई, दर्द की दवा की भी उपयोगिता है । जबतक ऑपरेशन की व्यवस्था नहीं हो पाती, तबतक मरीज तड़फता न रहे और आप लोग भी मरीज की ओर से निश्चिन्त होकर ऑपरेशन की व्यवस्था में निरापद होकर लग सकें – इसलिए यह इन्जेक्शन लगाया जाता है । इस मर्ज का असली इलाज तो ऑपरेशन ही है ।"

इसीप्रकार भूख-प्यास आदि लगने पर रोटी खा लेना, पानी पी लेना अस्थाई उपचार है, स्थाई इलाज नहीं । हम अनादि काल से अपने दुःखों को दूर करने के लिए यही अस्थाई इलाज करते आ रहे हैं । इनसे क्षणिक आराम तो मिलता है, पर स्थाई लाभ नहीं होता ।

जिसप्रकार मार्फिया के इन्जेक्शन की उपयोगिता ऑपरेशन की तैयारी में संलग्न होने में ही है, उसीप्रकार भूख-प्यास लगने पर शुद्ध-सात्विक भोजन कर लेने से जो सीमित निराकुलता प्राप्त होती है, उस निराकुलता के समय में इन दुःखों के मेटने के स्थाई इलाज की शोध-खोज में लगना ही भोजनादि लेने की सच्ची उपयोगिता है । पर आज हमारी तो यह स्थिति है कि एकबार भोजन कर लेने पर थोड़ी-बहुत निराकुलता प्राप्त होती है तो दुबारा के भोजन जुटाने में लग जाते हैं।

भाई, दुःख दूर करने का यह सही इलाज नहीं है । हमें इस बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिए । समस्त सांसारिक दुःखों को दूर करने के इलाज का नाम ही जैनधर्म है, मोक्षमार्ग है तथा वीतरागी परमात्मा और उनके मार्गानुसार चलनेवाले संत ज्ञानी जन ही सच्चे डॉक्टर हैं ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही सच्चा मोक्षमार्ग है, अनादिकालीन अनंत दुःख को दूर करने का एकमात्र उपाय है । अतः हमें इन्हें समझने में पूरी शक्ति लगाना चाहिए, इन्हें प्राप्त करने के लिए प्राणपण से जुट जाना चाहिए ।

इनके स्वरूप को समझने के लिए हमें जैनदर्शन में प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्था को समझना होगा, क्योंकि तत्त्वार्थ के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है ।[१]

तत्त्वार्थ सात होते हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।[२]

इन सात तत्त्वों के विस्तार में जाना तो इतने अल्प समय में संभव नहीं है, पर इतना समझ लेना कि इनमें जीव प्रथम तत्त्व हैं और मोक्ष अन्तिम । जीवतत्त्व का अर्थ है ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा और मोक्षतत्त्व का अर्थ है सच्चे सुखमयी दशा । हम सभी आत्मा तो हैं ही और हम सबको सुखी भी होना ही है । तात्पर्य यह है कि जीवतत्त्व को मोक्षतत्त्व की प्राप्ति करना है । हमें सुखी होना है, हमें मोक्ष प्राप्त करना है, जीवतत्त्व को मोक्षतत्त्व प्राप्त करना है – इन सबका एक ही अर्थ है ।

जीवतत्त्व अनादि-निधन द्रव्यरूप भगवान है और मोक्षतत्त्व सादि प्रगट दशारूप भगवान है । भगवान स्वभावी आत्मा का प्रगटरूप से पर्याय में

---

१. मोक्षशास्त्र अध्याय १, सूत्र २
२. मोक्षशास्त्र अध्याय १, सूत्र ४

भगवान बनना ही मोक्ष प्राप्त करना है । यही कारण है कि जैनदर्शन कहता है कि स्वभाव से तो हम सभी भगवान हैं ही, पर यदि अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जायें, रम जायें तो प्रगटरूप से पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं ।

अपने को पहिचानना, जानना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तथा अपने में ही जम जाना, रम जाना सम्यक्चारित्र है । इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है, सुखी होने का सच्चा उपाय है ।

यद्यपि यह भगवान आत्मा अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है, तथापि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जिन गुणों की चर्चा जिनागम में सर्वाधिक प्राप्त है, उनमें श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण प्रमुख हैं ।

इनमें ज्ञान गुण का कार्य सत्यासत्य का निर्णय करना है, श्रद्धा गुण का कार्य अपने और पराये की पहिचान कर अपने में अपनापन स्थापित करना है और अच्छे-बुरे का निर्णय हम अपने राग के अनुसार करते हैं । ध्यान रहे, राग चारित्र गुण की विकारी पर्याय है । इस जगत में कोई भी वस्तु अच्छी-बुरी नहीं है । उनमें अच्छे-बुरे का निर्णय हम अपने रागानुसार ही करते हैं । रंग न गोरा अच्छा होता है न साँवला, जिसके मन जो भा जाय, उसके लिए वही अच्छा है । हम गोरे रंग के लिए तरसते हैं और गोरी चमड़ी वाले यूरोपियन घंटों नंगे बदन धूप में इसलिए पड़े रहते हैं कि उनका रंग थोड़ा-बहुत हम जैसा साँवला हो जावे ।

दूसरों की बात जाने भी दें, हम स्वयं अपना चेहरा गोरा और बाल काले पसन्द करते हैं । जरा विचार तो करो, यदि चेहरे जैसे बाल और बालों जैसा चेहरा हो जावे तो क्या हो ? तात्पर्य यह है कि जगत में कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं है । अच्छे-बुरे की कल्पना हम स्वयं अपने रागानुसार ही करते हैं ।

इस जगत में न अच्छे की कीमत है न सच्चे की, अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि सर्वस्व-समर्पण अपनों के प्रति ही होता है। यही कारण है कि मुक्ति के मार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रद्धा गुण है, श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है ।

पर और पर्याय से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही सम्यग्दर्शन है, निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है और निज भगवान आत्मा में ही जमना-रमना सम्यक्-चरित्र है ।

यहाँ आप कह सकते हैं कि विद्वानों का काम तो सच्चाई और अच्छाई की कीमत बताना है और आप कह रहे हैं कि इस जगत में न सच्चाई की कीमत है और न अच्छाई की ।

भाई, हम क्या कह रहे हैं, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है ।

एक करोड़पति सेठ था । उसका एक इकलौता बेटा था ।

कैसा ?

जैसे कि करोड़पतियों के होते हैं, सातों व्यसनों में पारंगत ।

उसके पड़ोस में एक गरीब व्यक्ति रहता था । उसका भी एक बेटा था ।

कैसा ?

जैसा कि सेठ अपने बेटे को चाहता था, सर्वगुणसम्पन्न, पढ़ने-लिखने में होशियार, व्यसनों से दूर, सदाचारी, विनयशील ।

सेठ रोज सुबह उठता तो पड़ोसी के बेटे की भगवान जैसी स्तुति करता और अपने बेटे को हजार गालियाँ देता । कहता – "देखो वह कितना होशियार है, प्रतिदिन प्रातःकाल मन्दिर जाता है, समय पर सोकर उठता है और एक तू है कि अभी तक सो रहा है । अरे नालायक मेरे घर

में पैदा हो गया है, सो गुलछर्रे उड़ा रहा है, कहीं और पैदा होता तो भूखों मरता, भूखों .... । अरे अभागे .... ।"

बीच में ही बात काटते हुए पुत्र कहता – "पिताजी, और चाहे जो कुछ कहो, पर अभागा नहीं कह सकते ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि, जिसे आप जैसा कमाऊ बाप मिला हो, वह अभागा कैसे हो सकता है ? अभागे तो आप हैं, जिसे मुझ जैसा गमाऊ बेटा मिला है ।"

एक दिन पड़ौसी का बेटा स्कूल नहीं गया । उसे घर पर देखकर सेठ ने कहा – "बेटा ! आज स्कूल क्यों नहीं गये ?"

बच्चे ने उत्तर दिया – "मास्टरजी कहते हैं कि स्कूल में ड्रेस पहिनकर आओ और पुस्तकें लेकर आओ । मैं पापा से कहता हूँ तो उत्तर मिलता है कि कल ला देंगे, पर उनका कल कभी आता ही नहीं है, आज एक माह हो गया है । अतः आज मैं स्कूल ही नहीं गया हूँ ।"

पुचकारते हुए सेठ बोला – "बेटा, चिन्ता की कोई बात नहीं । अपना वो नालायक पप्पू है न । वह हर माह नई ड्रेस सिलाता है और पुरानी फेंक देता है। पुस्तकें भी हर माह फाड़ता है और नई खरीद लाता है । बहुत-सी ड्रेसें और पुस्तकें पड़ी हैं । ले जावो ।"

अब जरा विचार कीजिए, सेठ जिसकी भगवान जैसी स्तुति करता है, उसे अपने नालायक बेटे के उतरन के कपड़े और फटी पुस्तकें देने का भाव आता है और अपने उस नालायक बेटे को करोड़ों की सम्पत्ति दे जाने का पक्का विचार है । कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं आया कि थोड़ी-बहुत किसी और को भी दे दूँ।

अब आप ही बताइये कि जगत में अपने की कीमत है या अच्छे की, सच्चे की ? अच्छा और सच्चा तो पड़ौसी का बेटा है, पर वह अपना

नहीं; अतः उसके प्रति राग भी सीमित ही है, असीम नहीं । अपना बेटा यद्यपि अच्छा भी नहीं है, सच्चा भी नहीं है; पर अपना है; अपना होने से उससे राग भी असीम है, अनन्त है ।

इससे सिद्ध होता है कि अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ।

आज तक इस आत्मा ने देहादि पर-पदार्थों में ही अपनापन मान रखा है । अतः उन्हीं की सेवा में सम्पूर्णतः समर्पित है। निज भगवान आत्मा में एक क्षण को भी अपनापन नहीं आया है; यही कारण है कि उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है । देह की संभाल में हम चौबीसों घंटे समर्पित हैं और भगवान आत्मा के लिए हमारे पास सही मायनों में एक क्षण भी नहीं है। भगवान आत्मा अनन्त उपेक्षा का शिकार होकर सोतेला बेटा बनकर रह गया है ।

हम इस जड़ नश्वर शरीर के प्रति जितने सतर्क रहते हैं, आत्मा के प्रति हमारी सतर्कता उसके सहस्रांश भी दिखाई नहीं देती ।

यदि यह जड़ शरीर अस्वस्थ हो जावे तो हम डॉक्टर के पास दौड़े-दौड़े जाते हैं; जो वह कहता है, उसे अक्षरशः स्वीकार करते हैं; जैसा वह कहता है, वैसे ही चलने को निरन्तर तत्पर रहते हैं; उससे किसी प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं करते । यदि वह कहता है कि तुम्हें कैंसर है तो बिना मीन-मेख किये स्वीकार कर लेते हैं । वह कहे ऑपरेशन अतिशीघ्र होना चाहिए और एक लाख रुपये खर्च होंगे, तो हम कुछ भी आना-कानी नहीं करते, मकान बेचकर भी भरपूर सीजन के समय ऑपरेशन कराने को तैयार रहते हैं । डॉक्टर की भरपूर विनय करते हैं, लाखों रुपये देकर भी उसका आजीवन एहसान मानते हैं । पर जब आत्मा का डॉक्टर बताता है कि आपको मिथ्यात्व का भयंकर कैंसर हो गया है, उसका शीघ्र इलाज होना चाहिए तो उसकी बात पर एक तो हम ध्यान ही नहीं देते, और देते भी हैं तो हजार बहाने बनाते हैं । प्रवचन का समय अनुकूल नहीं है, हम बहुत दूर रहते हैं,

काम के दिनों (वीकडेज) में कैसे आ सकते हैं ? न मालूम कितने बहाने खड़े कर देते हैं ।

आखिर शरीर के इलाज की इतनी अपेक्षा और आत्मा के इलाज की इतनी उपेक्षा क्यों ? इसका एकमात्र कारण शरीर में अपनापन और भगवान आत्मा में परायापन ही तो है । जबतक शरीर से अपनापन टूटेगा नहीं और भगवान आत्मा में अपनापन आएगा नहीं, तबतक शरीर की उपेक्षा और भगवान आत्मा के प्रति सर्वस्व समर्पण संभव नहीं है । सर्वस्व समर्पण के बिना आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन संभव नहीं है । यदि हमें आत्मदर्शन करना है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो देह के प्रति एकत्व तोड़ना ही होगा, आत्मा में एकत्व स्थापित करना ही होगा ।

देह से भिन्नता एवं आत्मा में अपनापन स्थापित करने के लिए देह की मलिनता और आत्मा की महानता के गीत गाने से काम नहीं चलेगा, देह के परायेपन और आत्मा के अपनेपन पर गहराई से मंथन करना होगा ।

"पल रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादि तैं मैली ।
नव द्वार बहें घिनकारी, अस देह करे किम यारी ।।[१]

कफ और चर्बी आदि से मैली यह देह मांस, खून, पीप आदि मलों की थैली है । इसमें नाक, कान, आँख आदि नौ दरवाजे हैं, जिनसे निरन्तर घृणास्पद पदार्थ बहते रहते हैं । हे आत्मन् ! तू इसप्रकार की घिनावनी देह से यारी क्यों करता है ?"

"इस देह के संयोग में जो वस्तु पलभर आयगी ।
वह भी मलिन मल-मूत्रमय दुर्गन्धमय हो जायगी ।।
किन्तु रह इस देह में निर्मल रहा जो आतमा ।
वह ज्ञेय है श्रद्धेय है, बस ध्येय भी वह आतमा ।।[२]"

---

१. दौलतराम : छहढाला, पंचमी ढाल, अशुचिभावना

२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : बारहभावना, अशुचिभावना

इस देह की अपवित्रता की बात कहाँ तक कहें ? इसके संयोग में जो भी वस्तु एक पल भर के लिए ही क्यों न आये, वह भी मलिन हो जाती है, मल-मूत्रमय हो जाती है, दुर्गन्धमय हो जाती है । सब पदार्थों को पवित्र कर देने वाला जल भी इसका संयोग पाकर अपवित्र हो जाता है । कुएँ के प्रासुक जल और अठपहरे शुद्ध घी में मर्यादित आटे से बना हलुआ भी क्षण भर को पेट में चला जावे और तत्काल वमन हो जावे तो उसे कोई देखना भी पसंद नहीं करता । ऐसी अपवित्र है यह देह और इसमें रहने वाला भगवान आत्मा परम पवित्र पदार्थ है ।

"आनन्द का रसकन्द सागर शान्ति का निज आतमा ।
सब द्रव्य जड़ पर ज्ञान का घनपिण्ड केवल आतमा ।।[१]"

यह परम पवित्र भगवान आत्मा आनन्द का रसकंद, ज्ञान का घनपिण्ड, शान्ति का सागर, गुणों का गोदाम और अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है ।

इसप्रकार हमने देह की अपवित्रता तथा भगवान आत्मा की पवित्रता और महानता पर बहुत विचार किया है, पढ़ा है, सुना है; पर देह से हमारा ममत्व रंचमात्र भी कम नहीं हुआ और आत्मा में रंचमात्र भी अपनापन नहीं आया । परिणामस्वरूप हम वहीं के वहीं खड़े हैं, एक कदम भी आगे नही बढ़ पाये हैं ।

देह से अपनापन नहीं टूटने से राग भी नहीं टूटता; क्योंकि जो अपना है, वह कैसा भी क्यों न हो, उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? इसीप्रकार आत्मा से अपनापन स्थापित हुए बिना उससे अंतरंग स्नेह भी नहीं उमड़ता। अतः हमारे चिन्तन का बिन्दु आत्मा का अपनापन और देह का परायापन होना चाहिए । इसी से आत्मा में एकत्व स्थापित होगा, देह से भिन्नता भासित होगी ।

---

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : बारह भावना, एकत्वभावना

निज भगवान आत्मा में अपनापन ही सम्यग्दर्शन है और निज भगवान आत्मा से भिन्न देहादि पदार्थों में अपनापन ही मिथ्यादर्शन है।

अपनेपन की महिमा अद्‌भुत है । अपनेपन के साथ अभूतपूर्व उल्लसित परिणाम उत्पन्न होता है । आप प्लेन में बैठे विदेश जा रहे हों; हजारों विदेशियों के बीच किसी भारतीय को देखकर आपका मन उल्लसित हो उठता है । जब आप उससे पूछते हैं कि आप कहाँ से आये हैं ? तब वह यदि उसी नगर का नाम ले दे, जिस नगर के आप हैं तो आपका उल्लास द्विगुणित हो जाता है । यदि वह आपकी ही जाति का निकले तो फिर कहना ही क्या है ? यदि वह दूसरी जाति, दूसरे नगर या दूसरे देश का निकले तो उत्साह ठडा पड़ जाता है।

इस उल्लास और ठंडेपन का एकमात्र कारण अपनेपन और परायेपन की अनुभूति ही तो है । अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है । अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है और अपने को जानकर, पहिचानकर, अपने में ही जमकर, रमकर, अनन्त सुखी हो सकता है ।

दुःखों से मुक्ति के मार्ग में अपने में अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

एक सेठ था और उसका एक दो-ढाई वर्ष का इकलौता बेटा । घर के सामने खेलते-खेलते वह कुछ आगे बढ़ गया । घर की खोज में वह दिग्भ्रमित हो गया और पूर्व के बजाय पश्चिम की ओर बढ़ गया । बहुत खोजने पर भी उसे अपना घर नहीं मिला । घरवालों ने भी बहुत खोज की, पर पार न पड़ी । वह रात उसे गली-कूचों में ही रोते-रोते बितानी

पड़ी । प्रातःकाल तक उसकी हालत ही बदल गई थी, कपड़े गंदे हो गये और चेहरा मलिन, दीन-हीन ।

बहुत कुछ प्रयत्नों के बाद भी न उसे घर मिला और न घरवालों को वह । भीख मांगकर पेट भरने के अतिरिक्त कोई रास्ता न रहा । थोड़ा बड़ा होने पर लोग कहने लगे — काम क्यों नहीं करता ? आखिर एक हलवाई की दुकान पर बर्तन साफ करने का काम करने लगा ।

पुत्र के वियोग में सेठ का घर भी अस्त-व्यस्त हो गया था । अब न किसी को खाने-पीने में रस रह गया था और न आमोद-प्रमोद का प्रसंग ही । घर में सदा मातम का वातावरण ही बना रहता । ऐसे घरों में घरेलू नौकर भी नहीं टिकते; क्योंकि वे भी तो हंसी-खुशी के वातावरण में रहना चाहते हैं । अतः उनका चौका-बर्तन करने वाला नौकर भी नौकरी छोड़ कर चला गया था । अतः उन्हें एक घरेलू नौकर की आवश्यकता थी । आखिर उस सेठ ने उसी हलवाई से नौकर की व्यवस्था करने को कहा और वह सात-आठ साल का बालक अपने ही घर में नौकर बन कर आ गया ।

अब माँ बेटे के सामने थी और बेटा माँ के सामने, पर माँ बेटे के वियोग में दुःखी थी और बेटा माँ-बाप के वियोग में। माँ भोजन करने बैठती तो मुँह में कौर ही नहीं दिया जाता, बेटे को याद कर-करके रोती-बिलखती हुई कहती — 'न जाने मेरा बेटा कहाँ होगा, कैसी हालात में होगा ? होगा भी या नहीं ? या किसी के यहाँ चौका-बर्तन कर रहा होगा ?'

वहीं खड़ा बेटा एक रोटी माँगता तो झिड़क देती — "जा, अभी काम कर, बचेगी तो फिर दूँगी । काम तो करता नहीं और बार-बार रोटी माँगने आ जाता है ।"

उसी बेटे के लिए रोती-बिलखती और उसे ही रोटी माँगने पर झिड़कती । क्या है यब सब ? आखिर वह माँ दुःखी क्यों है?

क्या कहा, बेटे के अभाव में ?

बेटा तो सामने है । बेटे के अभाव में नहीं, बेटे में अपनेपन के अभाव में ही वह माँ परेशान हो रही है, दुःखी हो रही है ।

उसका बेटा नहीं खोया है, बेटा तो सामने है, बेटे की पहिचान खो गई है, बेटे में अपनापन खो गया है । मात्र पहिचान खो जाने, अपनापन खो जाने का ही यह दुष्परिणाम है कि वह अनन्त दुःख के समुद्र में डूब गई है, उसकी सम्पूर्ण सुख-शान्ति समाप्त हो गई है ।

उसे सुखी होने के लिए बेटे को नहीं खोजना, उसमें अपनापन खोजना है ।

एक दिन पड़ोसिन ने कहा – "अम्माजी । एक बात कहूँ, बुरा न मानना यह लड़का अभी बहुत छोटा है, इससे काम जरा कम लिया करें और खाना भी थोड़ा अच्छा दिया करें, समय पर दिया करें ।"

सेठानी एकदम क्रोधित होती हुई बोली – "क्या कहती हो ? यह काम करता ही क्या है ? दिन भर पड़ा रहता है और खाता भी कितना है ? तुम्हें क्या पता – दिन भर चरता ही रहता है ।"

बहुत कुछ समझाने पर भी वह सेठानी यह मानने को तैयार ही नहीं होती कि बच्चे के साथ कुछ दुर्व्यवहार किया जा रहा है । क्या है – इस सबका कारण ? एकमात्र अपनेपन का अभाव ।

कहते हैं – मातायें बहुत अच्छी होती हैं । होती होंगी, पर मात्र अपने बच्चों के लिए, पराये बच्चों के साथ उनका व्यवहार देखकर तो शर्म से माथा झुक जाता है । यह सभी माताओं की बात नहीं है, पर जो ऐसी हैं, उन्हें अपने व्यवहार पर एक बार अवश्य विचार करना चाहिए ।

एकबार एक दूसरी पड़ोसिन ने बड़े ही संकोच के साथ कहा—

"अम्माजी! मेरे मन में एक बात बहुत दिनों से आ रही है, आप नाराज न हों तो कहूँ ? बात यह है कि यह नौकर शक्ल से और अकल से सब बातों में अपना पप्पू जैसा ही लगता है । वैसा ही गोरा-भूरा, वैसे ही घुंघराले बाल; सब-कुछ वैसा ही तो है, कुछ भी तो अन्तर नहीं और यदि आज वह होता तो होता भी इतना ही बड़ा ।"

उसकी बात सुनकर सेठानीजी उल्लसित हो उठीं, उनके लाड़ले बेटे की चर्चा जो हो रही थी, कहने लगीं —"लगता तो मुझे भी ऐसा ही है। इसे देखकर मुझे अपने बेटे की और अधिक याद आ जाती है । ऐसा लगता है, जैसे यह मेरा ही बेटा हो ।"

सेठानी की बात सुनकर उत्साहित होती हुई पड़ोसिन बोली —

"अम्माजी ! अपने पप्पू को खोये आज आठ वर्ष हो गये हैं, अबतक तो मिला नहीं; और न अब भी मिलने की कोई आशा है । उसके वियोग में कबतक दुःखी होती रहोगी ? मेरी बात मानो तो आप इसे ही गोद क्यों नहीं ले लेतीं ?"

उसने इतना ही कहा था कि सेठानी तमतमा उठी —

"क्या बकती है ? न मालूम किस कुजात का होगा यह ?"

सेठानी के इस व्यवहार का एकमात्र कारण बेटे में अपनेपन का अभाव ही तो है । वेसे तो वह बेटा उसी का है, पर उसमें अपनापन नहीं होने से उसके प्रति व्यवहार बदलता नहीं है ।

अपना होने से क्या होता है ? जबतक अपनापन न हो, तबतक अपने होने का कोई लाभ नहीं मिलता । यहाँ अपने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अपनापन है ।

भाई, यही हालत हमारे भगवान आत्मा की हो रही है । यद्यपि वह अपना ही है, अपना ही क्या, अपन स्वयं ही भगवान आत्मा हैं, पर भगवान आत्मा में अपनापन नहीं होने से उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है, उसके साथ पराये बेटे जैसा व्यवहार हो रहा है । वह अपने ही घर में नौकर बन कर रह गया है ।

यही कारण है कि आत्मा की सुध-बुध लेने की अनन्त प्रेरणायें भी कारगर नहीं हो रही हैं, अपनापन आये बिना कारगर होंगी भी नहीं । इसलिए जैसे भी संभव हो, अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही एकमात्र कर्तव्य है, धर्म है ।

इसीप्रकार चलते-चलते वह लड़का अठारह वर्ष का हो गया । एक दिन इस बात का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध हो गया कि वह लड़का उन्हीं सेठजी का है । उक्त सेठानी को भी यह विश्वास हो गया कि यह सचमुच उसका ही लाड़ला बेटा है ।

अब आप ही बताइये – अब क्या होगा ?

होगा क्या ? वह सेठानी जोर-जोर से रोने लगी । सेठजी ने समझाते हुए कहा –

"अब क्यों रोती है ? अब तो हँसने का समय आ गया है, अब तो तुझे तेरा पुत्र मिल गया है ।"

रोते-रोते ही सेठानी बोली – "मेरे बेटे का बचपन बर्तन मलते-मलते यों ही अनन्त कष्टों में निकल गया है, न वह पढ़-लिख पाया है, न खेल-खा पाया ।

हाय राम ! मेरे ही आँखों के सामने उसने अनन्त कष्ट भोगे हैं, न मैंने उसे ढंग का खाना ही दिया और न पलभर निश्चिंत हो आराम ही करने दिया, जब देखो तब काम में ही लगाये रखा ।"

जो सेठानी इस बात को स्वीकार करने को कतई तैयार न थी कि वह उस बालक से बहुत काम कराती है और खाना भी ढंग का नहीं देती है, वही अब इकबालिया बयान दे रही है कि मैंने बहुत काम कराया है और खाना भी ढंग का नहीं दिया ।

यह सब अपनेपन का ही माहात्म्य है । अब क्या उसे यह समझाने की आवश्यकता है कि जरा काम कम लिया करें और खाना भी अच्छा दिया करें । अब काम का तो कोई सवाल ही नहीं रह गया है और खाने की भी क्या बात है, अब तो उसकी सेवा में सब-कुछ हाजिर है । व्यवहार में इस परिवर्तन का एकमात्र कारण अपनेपन की पहिचान है, अपनेपन की भावना है ।

इसीप्रकार जबतक निज भगवान आत्मा में अपना अपनापन स्थापित नहीं होगा, तबतक उसके प्रति अपनेपन का व्यवहार भी संभव नहीं है ।

इन देहादिपरपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दुःखों को दूर करने और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है ।

इस प्रवास में इसप्रकार का एक व्याख्यान तो लगभग सभी स्थानों पर हुआ ही ।

इस वर्ष हम सीधे अमेरिका पहुँचे थे । और लौटते समय इंगलैण्ड रुके । अमेरिका में हमने अपनी यह यात्रा १७ जून, १९८६ से बोस्टन से आरम्भ की । १८ जून, १९८६ के शाम डॉ. शैलेन्द्र पालविया के यहाँ 'क्रमबद्धपर्याय' पर चर्चा रखी गई, जो बहुत उपयोगी रही। इसप्रकार इस यात्रा का आरम्भ मेरे प्रिय विषय 'क्रमबद्धपर्याय' की चर्चा से ही हुआ।

पालविया दम्पति ने बताया कि हमें आपकी बारह्-भावना बहुत प्रिय है । हम उसकी कैसेट प्रतिदिन सुनते हैं ।

१९ जून, १९८६ को वोस्टन के उपनगर मार्लवरो में श्री नेमीचन्दजी जैन, दिल्ली वालों के यहाँ चर्चा रखी गई, जिसमें आत्मा-परमात्मा के संदर्भ में उपयोगी चर्चा हुई । २० जून, १९८६ को ग्रेटर वोस्टन जैन सेन्टर के अध्यक्ष रतिभाई दोधिया के यहाँ रोड आयरलैण्ड में तत्त्वचर्चा रखी गई, जिसमें आचार में अहिंसा, विचार में अनेकांत, वाणी में स्याद्वाद एवं व्यवहार में अपरिग्रह विषय पर गहरी चर्चा हुई ।

रतिभाई दोधिया हारमोनियम पर "मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ" गीत बड़े ही भावविभोर होकर गाते हैं, हर रविवार को जैन सेन्टर में सबको सामूहिक रूप से भी गवाते हैं । २१ जून, १९८६ को जैन सेन्टर के हॉल में सम्यग्दर्शन के स्वरूप एवं प्राप्ति के उपायों पर एक घंटे तक व्याख्यान एवं एक घंटे चर्चा हुई ।

वोस्टन से हम २२ जून, १९८६ रविवार को न्यूयार्क पहुँचे, जहाँ जैन सेन्टर में 'मोक्ष और मोक्षमार्ग' विषय पर एक घंटे व्याख्यान और एक घंटे तत्त्वचर्चा हुई । २३ जून, १९८६ को जब हम रोचेस्टर में किशोरभाई शेठ के घर में प्रवेश करते हैं तो देखते हैं कि वहाँ बारह भावना का कैसेट चल रहा है, जिसे सुनकर मेरा चित्त प्रफुल्लित हो उठा । उनकी माँ व धर्मपत्नी बड़ी ही तन्मयता से उसे सुन रही थीं, जिससे उन्हें हमारे पहुँचने का पता भी न चल सका ।

बारहभावना (पद्य) मेरी एक ऐसी कृति है, जिसे मानो मैंने स्वयं के लिए ही लिखा है, जो मेरे दैनिक पाठ की वस्तु-सी बन गई है । सात समुद्र पार विदेशों में भी उसकी इतनी गहरी पकड़ देखकर मैं सचमुच भाव-विभोर हो उठा । यहाँ २४ जून, १९८६ के शाम को ६.३० से १०.३० तक इन्डियन कम्युनिटी हॉल में व्याख्यान व चर्चा हुई । यह

व्याख्यान उन्हें इतना मार्मिक लगा कि इसके टेप न कर पाने का उन्हें बहुत दुःख हुआ । उन्होंने हमसे अनुरोध किया कि यह व्याख्यान यदि आगे आप और कहीं करें तो हमें इसका कैसेट अवश्य भिजवाना । जब हमने उन्हें बताया कि इसीप्रकार का एक व्याख्यान वोस्टन में हुआ है, जिसका वीडियो कैसेट भी उन लोगों ने तैयार किया है, आप चाहें तो उनसे मंगालें। -- यह बात जानकर उन्हें अपार प्रसन्नता हुई ।

रोचेस्टर से हम २५ जून, १९८६ को लासएंजिल्स पहुँचे। २६ जून को गिरीश शाह के घर तत्त्वचर्चा रखी गई, जिसमें सभी अभ्यासी मुमुक्षु भाई उपस्थित थे । अतः समयसार गाथा ३०८ से ३११ के आधार पर 'क्रमबद्धपर्याय' पर गहरी चर्चा हुई । यह जानकर आपको सुखद आश्चर्य होगा कि गिरीशभाई के घर हर रविवार को २०-२५ मुमुक्षु भाई एकत्रित होते हैं और गहरी तत्त्वचर्चा करते हैं । यहाँ फिनिक्स से भी कुछ मुमुक्षु भाई आये थे । वे तीन दिन तक रहे और सभी प्रवचनों तथा चर्चा का भरपूर लाभ लिया । फिनिक्स में कार्यक्रम रखने का उनका बहुत आग्रह था, पर इसवर्ष तो संभव ही न था, अतः अगले वर्ष का आश्वासन देकर ही उन्हें संतुष्ट करना पड़ा ।

२७ जून को रमेशभाई देशी के यहाँ चर्चा रखी गई, जिसमें आत्मानुभव पर गहरी चर्चा हुई । २८ जून रविवार को एक हॉल में व्याख्यान रखा गया । व्याख्यान के बाद चर्चा भी हुई ।

यहाँ एक जैन मन्दिर बनाया जा रहा है, जिसके लिए जमीन खरीद ली गई है । इसमें लगभग छह लाख डालर खर्च होंगे, जिसमें साढ़े तीन लाख डालर इकट्ठे भी हो चुके हैं । जैन सेन्टर के अध्यक्ष डॉ. मणिभाई मेहता एवं उपाध्यक्ष चन्द्रकान्त भाई ने हमें उसकी रूपरेखा समझाई और आगामी वर्ष होनेवाली उसकी प्रतिष्ठा पर पधारने का भावभीना आमंत्रण भी दिया ।

२८ जून की शाम को ही हम सान्फ्रान्सिस्को पहुँच गये। यहाँ २९ जून रविवार को तीन कार्यक्रम रखे गये थे। प्रातःकाल वीतराग-विज्ञान पाठशाला के बच्चों का कार्यक्रम था । यहाँ हिम्मतभाई डगली और उनके सहयोगी नवीनभाई नियमित पाठशाला चलाते हैं । इसमें ४0 छात्र पढ़ते हैं, जिन्होंने बालबोध पाठमाला भाग एक पढ़ लिया है, पास कर लिया है, उन्हें हमारे हाथ से प्रमाण-पत्र वितरण करने का कार्यक्रम था । तीसरी कक्षा से आठवीं कक्षा तक के इन बालकों से दो घंटे तक प्रश्नोत्तर हुए।

सर्वप्रथम लगभग सभी छात्रों ने क्रमशः एक-एक करके णमोकार मंत्र, चत्तारिमंगलं एवं तीर्थंकरों के नाम सुनाए । उसके बाद कुछ प्रश्न हमने पूछे, जिनके संतोषजनक उत्तर बालकों ने दिये । उसके बाद प्रत्येक बालक ने क्रमशः एक-एक प्रश्न हमसे पूछा, जिसका समाधान हमने किया । छात्रों द्वारा पूछे गये प्रश्न बड़े ही मार्मिक थे ।

दोपहर में एक बजे से दो बजे तक हिन्दू मन्दिर में व्याख्यान हुआ । हिन्दू मन्दिर में मेरी पुस्तक 'नो दाइ सेल्फ' पहले से ही विद्यमान थी । वहाँ के पण्डितजी ने यह पुस्तक पढ़ी थी, अतः उन्होंने उसी विषय पर बोलने का अनुरोध किया । उनके अनुरोध का सम्मान करते हुए हमने उस विषय पर जो भी विचार रखे, उन्हें सभी ने बहुत पसंद किया।

इसके बाद पिकनिक स्पॉट पर एकत्रित समस्त जैन समाज के समक्ष ४ से ६ बजे तक प्रवचन और चर्चा हुई । १ जुलाई, १९८६ को हिम्मतभाई डगली के घर तत्त्वचर्चा रखी गई ।

२ जुलाई, १९८६ को ह्यूस्टन पहुँचे । ३ जुलाई, १९८६ की शाम को प्रदीप शाह के यहाँ तत्त्वचर्चा एवं ४ व ५ जुलाई को एक हॉल में प्रवचन व तत्त्वचर्चा रखी गई। सभी कार्यक्रम बहुत प्रभावक रहे ।

इसके बाद डलास में ६ जुलाई को सुधीर शाह के यहाँ तत्त्वचर्चा एवं ७ जुलाई को हॉल में सम्यग्दर्शन पर प्रवचन व तत्त्वचर्चा हुई ।

डलास से मिनियापिलिस पहुँचे । यहाँ हम पहली बार ही आये थे । यहाँ हिन्दू मन्दिर में 'मैं कौन हूँ' विषय पर मार्मिक प्रवचन हुआ एवं इसी विषय पर एक घंटे तत्त्वचर्चा भी हुई । यहाँ जैनों के अतिरिक्त अनेक अजैन बन्धु भी प्रवचन सुनने पधारे थे, जिनमें दो-तीन दर्शनशास्त्र और इतिहास के प्रोफेसर थे, जिन्होंने वेदान्त और जैनदर्शन पर तुलनात्मक प्रश्न किए । सब-कुछ मिलाकर प्रवचन व तत्त्वचर्चा बहुत अच्छी रही ।

यहाँ के हिन्दू मन्दिर में सफेद संगमरमर की एकदम बेदाग दो फुट ऊँची अत्यन्त मनोज्ञ जिनप्रतिमा है, जो वहाँ विराजमान सभी हिन्दू प्रतिमाओं में सबसे बड़ी है । हिन्दू मन्दिर में सम्पूर्णतः निरावरण बिना चिन्ह की अत्यन्त मनोज्ञ दिगम्बर प्रतिमा को देखकर मन आनन्दित हो उठा।

उसके बाद १० जुलाई को डिट्रोयट पहुँचे । वहाँ हम ६ दिन रहे, क्योंकि वहाँ शिविर का आयोजन किया गया था । शिविर डिट्रोयट से लगभग ५० मील दूर फ्लिन्ट नामक नगर के पास फ्लन्टन नामक पिकनिक स्पोट पर एक विशाल झील के किनारे रखा गया था, जिसमें १३९ व्यक्ति सम्मिलित हुए थे । यह संख्या तो उन लोगों की है, जिन्होंने शुल्क देकर अपना नाम रजिस्टर कराया था और शिविर में आद्योपान्त रहे; ऐसे भी अनेक लोग थे, जो प्रवचन के समय पर आ जाते थे और बाद में चले जाते थे। इस शिविर में हमारे छह प्रवचन और लगभग छह घंटे की तत्त्वचर्चा हुई। 'सम्यग्दर्शन और उसकी प्राप्ति का उपाय' विषय पर हुए प्रवचनों और चर्चा में दृष्टि के विषय की बात बहुत ही विस्तार से स्पष्ट हुई । 'क्रमबद्धपर्याय' पर भी एक व्याख्यान व चर्चा हुई ।

लोग सुनने को इतने लालायित थे कि चाहते थे कि मैं बोलता ही रहूँ, पर मेरी भी सीमाएँ तो थीं ही । इस शिविर में सम्मिलित होने के लिए

शिकागो से भी लोग पधारे थे । यह शिविर इतना प्रभावक रहा कि लोगों ने जयपुर आकर महीनों रहकर धर्मलाभ लेने की भावना व्यक्त की, वाशिंगटन में लगनेवाले शिविर के लिए रिजर्वेशन कराया । आगामी वर्ष इससे भी विशाल पैमाने पर शिविर लगाने की तैयारी बताई।

इस शिविर में बच्चों की कक्षा महेन्द्रभाई, बलभद्रजी, शारदा एवं सुन्दरम् बहिन लेती थीं । महेन्द्रभाई एवं उनकी धर्मपत्नी बच्चों की कक्षा लेने में बारहों मास सक्रिय रहते हैं । उनकी लगन सराहनीय है । बलभद्र, शारदा एवं सुन्दरम् मूलतः अमरीकी हैं, उनके ये नाम श्री चित्रभानुजी के दिए हुए हैं । ये जिनधर्म में गहरी आस्था रखते हैं । भाई बलभद्र तो दीक्षित भी होना चाहते हैं । हमने उन्हें जैनदर्शन के गहरे अध्ययन के बाद ही आगे बढ़ने की सलाह दी । उन्हें अपना सम्पूर्ण इंगलिश साहित्य भेंट किया एवं जयपुर आकर अध्ययन करने का आमंत्रण दिया। यह आश्वासन भी दिया कि उनके रहने, खाने-पीने की सम्पूर्ण व्यवस्था हम अपनी संस्था की ओर से करेंगे । उन्हें पढ़ाने की व्यवस्था भी करेंगे ।

उन्होंने हमारे इस प्रस्ताव पर अपार प्रसन्नता व्यक्त की, आने की पूरी-पूरी तैयारी भी बताई, पर होता क्या है ?– यह सब समय ही बतायेगा ।

यहाँ शिविर के अतिरिक्त भी तीन प्रवचन हुए, जो क्रमशः डॉ. भरत और गीता ठोलिया, महेन्द्र और सरोज शाह एवं जयन्त शाह के घर पर हुये, जो क्रमशः बारह तप, जैनदर्शन की विशेषता एवं आत्मानुभव की प्रक्रिया और क्रम पर हुए । साथ में प्रश्नोत्तर तो होते ही थे ।

इसके बाद हम विन्डसर होते हुए १६-७-८६ को टोरन्टो (कनाडा) पहुँचे । यहाँ तीनों ही दिन हमारे प्रवचन जैन सेन्टर के हॉल में रखे गये, जिनमें 'सम्यग्दर्शन और उसकी प्राप्ति के उपाय' विषय पर गहराई से प्रकाश डाला गया और गंभीर प्रश्नोत्तर हुये । यहाँ पर आगामी वर्ष शिविर लगाने

की मांग की गई, जिसके लिये सात दिन पाने के लिये अभी से प्रयत्न चालू कर दिया गया ।

टोरन्टो से हम सिनसिनाटी पहुँचे, जहाँ जैन फैडरेशन के मंत्री श्री सुलेख के घर ठहरे । यहाँ गुजराती समाज के हॉल में प्रवचन व चर्चा रखी गई, जिसमें १६० व्यक्ति उपस्थित थे । इस कार्यक्रम की वीडियो कैसेट भी तैयार की गई थी ।

दूसरे दिन सुलेख जैन के घर पर बारह भावनाओं का पाठ व तत्त्वचर्चा रखी गई थी । बारह भावनाओं की पुस्तकें कम थीं, अतः पुस्तक की फोटो कॉपियां कराके सबके हाथों में दी गई थीं ।

यहाँ से हम लिंगस्टन पहुँचे, जहाँ महेश गोशलिया के घर ठहरे, उन्हीं के घर कार्यक्रम रखा गया । इसके बाद अटलान्टा पहुँचे, जहाँ हर्षद एवं रमिला गांधी के घर कार्यक्रम रखा गया । यहाँ आशा से बहुत अधिक ६0 व्यक्ति उपस्थित हुये । ध्यान रहे, यहाँ कुल ३५ घर जैनियों के हैं, जो बहुत दूर-दूर रहते हैं और यहाँ जैन सेन्टर भी नहीं है । यहाँ यह हमारा ही नहीं, यहाँ की जैन समाज का भी सबसे पहला कार्यक्रम था । आज तक यहाँ कोई जैन प्रवक्ता पहुँचा ही नहीं था । इस प्रथम प्रयास में ही सफलता मिलने से उन्हें बहुत उत्साह था ।

इसके बाद हम वाशिंगटन पहुँचे । यहाँ गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी शिविर का आयोजन था, जो बड़ी सफलता के साथ सम्पन्न हुआ है । इस शिविर में चले विषयों एवं उनके प्रभाव की जानकारी के लिये इस शिविर में सम्मिलित एक महिला के पत्र को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा ।

"दो सप्ताह पूर्व सेन्टमेरी कॉलेज में आयोजित शिविर में सम्मिलित होने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ । उसमें आपके सम्यग्दर्शन, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहारनय पर हुये प्रवचन प्रकाश-स्तम्भ थे । उनसे

मुझको जैनदर्शन को समझने की सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हुई है । आपकी समझाने की शैली ऐसी अद्‌भुत है कि उससे कठिन विषय भी रोचक हो जाता है व आसानी से समझ में आ जाता है ।

शाम को प्रश्नोत्तर के कार्यक्रम द्वारा अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण हुआ व और अधिक जानने की इच्छा जागृत हुई । सर्वप्रथम सुना गया आपका क्रमबद्धपर्याय से संबंधित 'कषाय' वाला प्रकरण मेरे गले नहीं उतरा, किन्तु आपकी पुस्तक पढ़ लेने के बाद वह समझ में आ गया ।

श्री अरविन्द शाह के मकान पर हुये 'अहिंसा' के प्रवचन ने तो इस दिशा में मेरे मस्तिष्क को नई रोशनी दी है ।

आपके इस शिविर में भाग लेने से वास्तव में ही जैनदर्शन को गहराई से जानने की उत्सुकता हुई है । अपनी आत्मा की खोज की यात्रा में आपके आशीर्वाद की प्रार्थना करती हूँ। आगामी वर्ष होनेवाले शिविर में उपस्थित होने की पूर्ण अभिलाषा है । — जया नागदा

१९९00, विल्डचेरी, लेन जर्मन टाउन, एम. डी. २0८७४"

इस शिविर में लाभ लेने के लिये न्यूजर्सी एवं टोरंटो (कनाड़ा) से भी लोग आये थे । आगामी वर्ष शिविर लगाने के लिये इसी स्थान को २५ जुलाई, १९८७ से २८ जुलाई, १९८७ तक अभी से बुक कर लिया गया है ।

इस शिविर में बारह भावना, महावीर वन्दना एवं ज्ञानानन्द स्वभावी गीत का पाठ प्रतिदिन किया जाता था । बारह भावना का पाठ इतना सुहावना लगा कि रजनीभाई गोशलिया ने घोषणा की कि बारह भावनाओं की कैसिट वे अपनी ओर से उन १0३ घरों को भेंट करेंगे, जो वाशिंगटन जैन सेन्टर के सदस्य हैं । ९0 मिनट की इस कैसिट में एक ओर बारहभावना होगी और दूसरी ओर इस शिविर में चले आत्मानुभूति संबंधी प्रकरण का संक्षिप्त

सार होगा । इसके लिए उन्होंने एक ४५ मिनट का प्रवचन विशेष कराया, जिसमें चार घण्टे के प्रवचनों का संक्षिप्त सार आ गया है ।

आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन संबंधी प्रवचनों से रजनीभाई इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने मुझसे कहा कि इस वर्ष आप जो संस्मरण वीतराग-विज्ञान में लिखें, उसमें इस विषय को भी विस्तार से लिखें और 'विदेशों में जैनधर्म' पुस्तक के आगामी संस्करण में उन्हें शामिल करें तो वे उस 'विदेशों में जैनधर्म' पुस्तक को अमेरिका और कनाड़ा में रहने वाले लगभग चार हजार परिवारों को अपनी ओर से भेंट करेंगे, उसे घर-घर पहुँचाने की व्यवस्था भी वे स्वयं अपने व्यय से ही करेंगे । वे चाहते थे कि इस महत्त्वपूर्ण विषय को अमेरिका में बसे जैनियों के प्रत्येक घर में लिखितरूप में पहुँचना चाहिये । उनकी भावना को ध्यान में रखकर ही मैंने इस वर्ष बहुत-कुछ विस्तार से उक्त प्रकरण को सम्पादकीय में सम्मिलित किया है ।

इसके बाद ३१ जुलाई की रात को हम रालेइघ पहुँचे । वहाँ १ अगस्त को प्रवचन व चर्चा रखे गये । यहाँ हम पहली बार ही गये थे । यहाँ मात्र २० घर ही जैनियों के हैं, फिर भी उपस्थिति अच्छी थी । यहाँ प्रवीण शाह उत्साही कार्यकर्त्ता हैं । वे गतवर्ष समाचारपत्रों से सूचना प्राप्तकर विदेशियों के लिये १९ दिसम्बर, १९८५ से २३ दिसम्बर, १९८५ तक जयपुर में लगनेवाले शिविर में आये थे। हमारी संस्था की गतिविधियों को देखकर इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने हमारे बिना कुछ कहे ही हमारी संस्था को दस हजार रुपये जैन सेन्टर रालेइघ की ओर से भेंट किये । तभी से वे हमें रालेइघ ले जाने के लिये प्रयत्नशील थे।

इसके बाद हम २ अगस्त को मिलवाकी पहुँचे । यहाँ अरुण गाँधी के यहाँ ठहरे एवं हॉल में प्रवचन व चर्चा रखे गये । मिलवाकी वालों ने पूरे प्रवचन व चर्चा की वीड़ियो कैसेट तैयार कराई है । यहाँ भी हम पहली बार ही गये थे, तथापि वे लोग इतने प्रभावित हुये कि आगामी वर्ष शिविर रखना चाहते हैं ।

इसके बाद ३ अगस्त, १९८६ रविवार को शिकागो पहुँचे, जहाँ एक हॉल में प्रवचन व चर्चा रखे गये । इसके अतिरिक्त एक-एक दिन क्रमशः निरंजन शाह, ज्योत्सना शाह एवं ज्योतेन्द्रभाई के घर चर्चा भी रखी गई । शिकागों में भी अच्छा आध्यात्मिक वातावरण है । ज्योतेन्द्रभाई नियमित गोष्ठी चलाते हैं । ज्योत्सनाबेन सपरिवार डिट्रोयट के शिविर में शामिल हुई थीं। वे वहाँ से एक पुस्तक क्रमबद्धपर्याय (गुजराती) ले आई थीं । जबतक हम शिकागो पहुँचे, तबतक उसे १५ परिवार पढ़ चुके थे । इससे आप अनुमान कर सकते हैं कि अबतक यू.एस.ए. और यू.के. में हमारी जो बीस हजार पुस्तकें पहुँच चुकी हैं, वे मात्र आलमारियों की शोभा नहीं बढ़ातीं, अपितु पूरी तरह पढ़ी जाती हैं । यहाँ भी आगामी वर्ष शिविर रखने का विचार है । मिलवाकी और शिकागो मिलकर दोनो के बीच के किसी एक स्थान पर एक सप्ताह का शिविर रखने की सोच रहे हैं । देखें क्या होता है ?

जैन सोसायटी के मंत्री निरंजन शाह उत्साही कार्यकर्त्ता हैं, अध्यात्मप्रेमी हैं। वे अपने पिताजी की स्मृति मे यदि उपलब्ध हो जावें तो १०० सत्य की खोज (गुजराती) वितरण करना चाहते हैं ।

इसप्रकार हम अमेरिका और कनाड़ा का कार्यक्रम पूरा कर ६ अगस्त, १९८६ को लन्दन पहुँचे, जहाँ जबेरचन्दभाई के घर ठहरे और उसी दिन शाम को श्रीमद्राजचन्द्र के अनुयायी मुमुक्षु भाइयों की नियमित गोष्ठी में हमारा प्रवचन व चर्चा रखी गई । इसमें लगभग ६० से अधिक अध्यात्मप्रेमी भाई-बहिन उपस्थित थे ।

७, ८ एवं १० अगस्त को नवनाथ भवन में प्रवचन व चर्चा रखी गई, जो बहुत ही प्रभावक रही । उपस्थिति दो सौ से तीन सौ के बीच में रहती होगी। इसके वीडियो कैसेट भी तैयार किये गये । मुम्बासा (किन्या) से आये भगवानजीभाई कचराभाई भी इस वर्ष यहीं हैं । इनके चार सुपुत्र तो यहाँ रहते ही हैं, सबसे बड़े सुपुत्र सोमचन्दभाई भी इस समय यहाँ

आये थे । उनके घर भी एकदिन चर्चा का कार्यक्रम रखा गया । जवेरचन्दभाई एवं अरुण दोशी के घर भी एक-एक दिन चर्चा रखी गई थी ।

भगवानजीभाई ८५ वर्ष के मुमुक्षु भाई हैं, जो यहाँ नियमित गोष्ठी चलाते हैं । इन्होंने हमसे तत्त्वचर्चा के साथ-साथ सोनगढ़ और जयपुर के संदर्भ में भी बहुत विस्तार से चर्चा की । उन्होंने हमें बिना प्रेरणा के स्वतः ही प्रवचन रत्नाकर भाग ५ व ६ की कीमत कम करने के लिये दस-दस हजार एवं भक्तामर प्रवचन की कीमत कम करने के लिये पांच हजार रुपये देने के वचन दिये । इतना ही नहीं, उन्होंने अपने पौत्र कमल भीमजी शाह एवं मीना सोमचन्द शाह को जयपुर में विदेशियों के लिए लगने वाले शिविर में जैनधर्म के अध्ययन के लिए भेजा । यद्यपि शिविर १९ दिसम्बर से २३ दिसम्बर, १९८६ तक पाँच दिन का ही था, तथापि वे ११ दिसम्बर, १९८६ को ही आ गये थे और २७ दिसम्बर, १९८६ तक रहे । इन सत्रह दिनों में वे बालबोध पाठमाला भाग १-२-३ एवं नो दाई सेल्फ का अध्ययन करके गये हैं । उन्होंने लन्दन में नियमित पाठशाला चलाने का भी संकल्प किया है ।

हमारे लन्दन के कार्यक्रम के परिचय सहित समाचार व विज्ञापन लन्दन से निकलनेवाले समाचार-पत्र 'गरवी गुजरात' में प्रकाशित हुये थे । उन्हें देखकर मानचेस्टर के डॉ. नरेशभाई शाह ने मानचेस्टर में कार्यक्रम रखने का अनुरोध किया । उनके अति-आग्रह को देखकर हम ९ अगस्त, १९८६ को मानचेस्टर गये, जहाँ एक कॉलेज के हॉल में कार्यक्रम रखा गया । हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि २४ घंटे की सूचना पर भी वहाँ लगभग १५० व्यक्ति उपस्थित थे। हमारा वहाँ का प्रवचन इतना प्रभावक रहा कि डॉ. नरेश शाह हमारे साथ लन्दन चले आये और जबतक हमारे प्रवचन वहाँ होते रहे, तबतक वे वहीं रहे । उनकी पत्नी को बहुत तेज जुकाम हो रहा था, फिर भी वे भी साथ में आईं और अन्त तक रहीं ।

लिस्टर जैन समाज एवं डॉ. नटूभाई शाह के अनुरोध पर हम ११ अगस्त, १९८६ को लिस्टर गये, जहाँ जिनमन्दिर के हॉल में हमारा प्रवचन हुआ । लिस्टर में डॉ. नटूभाई शाह एवं उनके साथियों ने अनुरोध किया कि हमें आगामी वर्ष सात दिन मिलने चाहिये । हम आमसभा में आपके प्रवचन कराना चाहते हैं। ध्यान रहे, तीन लाख की जनसंख्या वाले लिस्टर नगर में साठ हजार गुजराती भाई रहते हैं ।

इसप्रकार अनेक उपलब्धियों से समृद्ध आठ सप्ताह का यह तीसरा विदेश प्रवास १२ अगस्त को लन्दन से रवाना होने पर समाप्त हुआ और हम १३ अगस्त, १९८६ को बम्बई पहुँचे । उक्त विवरण और अपने अनुभव के आधार पर मैं निशंक होकर कह सकता हूँ कि वीतरागी तत्त्वज्ञान के पदचिन्ह अब अमेरिका, कनाडा और इंग्लैण्ड में उभरने लगे हैं । यदि लगातार प्रयास चालू रखा गया तो निश्चित ही विदेशों में वीतरागी तत्त्वज्ञान का भविष्य उज्ज्वल होगा ।

इन यात्राओं का एकमात्र उद्देश्य वीतरागी तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । घूमने-फिरने में न तो हमारी रुचि ही है और न हम वहाँ घूमते-फिरते ही हैं । सम्पूर्ण समय प्रवचनों-चर्चाओं में ही व्यतीत होता है । सामूहिक कार्यक्रमों के अतिरिक्त व्यक्तिगत चर्चा में भी तत्त्वचर्चा ही होती है । इसतरह हमारा उपयोग भी आभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ही रहता है ।

वीतरागी तत्त्वज्ञान विश्वभर में जन-जन की वस्तु बने – इस पावन भावना से विराम लेता हूँ ।

४

आत्मा ही परमात्मा है

ज्ञान सर्वसमाधान कारक है, उसका सर्वत्र ही अबाध प्रवेश है । वस्तुविज्ञान का ऐसा कौन-सा क्षेत्र है, जहाँ ज्ञान का प्रवेश न हो ? आज जगत में जो भी वैज्ञानिक चमत्कार दिखाई देते हैं, वे सब ज्ञान के ही कमाल हैं । यदि यही ज्ञान निज भगवान आत्मा में समर्पित हो जावे, उसकी ही शोध-खोज में लग जावे तो इससे भी अधिक चमत्कृत करेगा ।

जड़पदार्थों में लगे इस परोन्मुखी ज्ञान ने दैनिक-जीवन के लिए सुविधायें तो भरपूर जुटा दीं, पर वह सुख और शान्ति नहीं जुटा सका । यदि हमें सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त करनी है तो जड़पदार्थों की शोध-खोज में संलग्न अपने इस ज्ञान को वहाँ से हटाकर निज भगवान आत्मा की शोध-खोज में लगाना होगा ।

मात्र भारतवासी ही नहीं, भौतिक प्रगति के शिखर को चूम रहे पश्चिमी जगत के लोग भी यह बात गहराई से अनुभव करने लगे हैं, आज वे भी पूर्व (भारत) की ओर भीगी आँखों से देखने लगे हैं, उनमें अध्यात्म के प्रति गहरी जिज्ञासा जागृत हो गई है । — इस बात का गहरा अनुभव मैंने अपनी इन विदेश-यात्राओं में किया ।

यद्यपि मेरी इन विदेश-यात्राओं का उद्देश्य जैनेतरों में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करना कदापि नहीं था, मैं तो उन जैन भारतीय प्रवासियों में ही आध्यात्मिक जागृति लाना चाहता था, जो इसी सदी में भारत से जाकर वहाँ बसे हैं । मेरे सम्पूर्ण व्याख्यान भी हिन्दी भाषा में ही होते रहे हैं । अतः पश्चिम के मूल निवासियों तक मेरी पहुँच होना संभव भी नहीं थी । फिर भी मेरी १५ पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवादों ने उन्हें भी आकर्षित किया । मेरी क्रान्तिकारी कृति 'क्रमबद्धपर्याय' ने इस दिशा में विशेष कार्य

किया । परिणामस्वरूप एक कनाडावासी भाई, जिनका नाम ब्रूट्स था और अब बदलकर बलभद्र रख दिया गया है, जैनदर्शन का गहरा अध्ययन करने के लिए २0 अक्टूबर को जयपुर पहुँच रहे हैं । वे श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में चार माह रहकर अध्ययन करेंगे । उन्होंने अंग्रेजी में अनुवादित मेरी सभी कृतियों का गहरा अध्ययन किया है । उनका आचरण एवं खान-पान एकदम सात्विक हो गया है; वे दूध, दही, घी का भी सेवन नहीं करते और अपना शेष सम्पूर्ण जीवन जिन-साधना में ही व्यतीत करने के लिए कृतसंकल्प हैं । घरबार छोड़कर आत्माराधना के लिए निकल पड़नेवाले ४१ वर्षीय बलभद्रजी अत्यन्त भद्र परिणामी हैं ।

पश्चिमी देशों की मेरी यह ६३ दिवसीय चतुर्थ विदेशयात्रा २१ मई, १९८७ से अमेरिका के प्रसिद्ध महानगर शिकागो से आरम्भ हुई। शिकागो में २३ व २४ मई को जैना (फैडरेशन ऑफ जैन एसोसियेशन इन नार्थ अमेरिका) का चतुर्थ द्विवार्षिक सम्मेलन था, जिसमें अमेरिका के विभिन्न प्रान्तों, नगरों एवं कनाडा, इंगलैण्ड, सिंगापुर एवं भारत आदि अनेक देशों के लगभग एक हजार प्रतिनिधि शामिल हुए थे ।

सम्मेलन को देखकर ऐसा लगता था कि एक छोटा भारत ही यहाँ उपस्थित है । हजारों जैन नर-नारियों को एक पंक्ति में जमीन पर बैठकर भारतीय पद्धति से भारतीय भोजन करते देखकर ऐसा लगता था कि हम भारत में ही हैं । इन सबसे विश्वास होता है कि अमेरिका में बसे जैनों में अभी भारतीय संस्कृति और जैन संस्कार पूरी तरह सुरक्षित हैं, और भविष्य में भी रहेंगे ।

इस सम्मेलन में हमारे तीन व्याख्यान हुए । सर्वप्रथम ध्यान सम्बन्धी कार्यक्रम में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए हमने कहा कि ध्यान करने योग्य तो एकमात्र परमपदार्थ निज भगवान आत्मा ही है। आजतक जितने भी जीवों ने अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त किया है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धारण किया है, सिद्धदशा को प्राप्त किया है; उन सभी ने यह सब निज भगवान

आत्मा के ध्यान से ही प्राप्त किया है । अतः ध्यान करने के पूर्व हमें परमध्येयरूप निज भगवान आत्मा का स्वरूप भलीभाँति समझना चाहिए; क्योंकि ध्येय का स्वरूप स्पष्ट हुए बिना ध्यान संभव नहीं है ।

हमारे कुछ धर्मप्रेमी भाई ध्यान के अभ्यास की बात करते हैं, ध्यान की कक्षाएँ लगाने की बात करते हैं, ध्यान के शिविर लगाने की बात करते हैं, ध्यान के सामूहिक प्रयोग करने की बात करते हैं; पर भाई, ध्यान तो एकान्त में होता है और शिविर, सामूहिक प्रयोग और कक्षाओं में एकान्त संभव नहीं है; शिविर, कक्षा और समूह स्वयं भीड़ हैं ।

हमारे ऋषियों-मुनियों ने, वीतरागी सन्तों ने, तीर्थंकरों ने तो घरबार छोड़कर गहन वनों में पर्वतों की चोटियों पर जाकर एकान्त में ध्यान किया था और हम वातानुकूलित सभागारों में डनलप की नरम-नरम कुर्सियों पर सपत्नीक बैठकर हजारों व्यक्तियों की भीड़ में किसी के निर्देश सुनते हुए ध्यान करना चाहते हैं । क्या हो गया है हमें और हम कहाँ से कहाँ पहुँच गये हैं ?

इस सन्दर्भ में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि श्रमण-संस्कृति के सभी तीर्थ पर्वतों पर हैं, जंगलों में हैं; जबकि वैष्णव-तीर्थ गंगा के किनारे या सागरतटों पर मनोरम स्थानों पर अवस्थित हैं । सुरम्यस्थानों पर अवस्थित होने से वहाँ यात्रियों को सभी सुविधाएँ सहज उपलब्ध हो जाती हैं, मन्दिरों का निर्माण भी अल्पमूल्य में हो जाता है, जबकि सम्मेदशिखर जैसे पर्वतीय स्थानों पर मन्दिर आदि बनाने में उससे कई गुना खर्च होता है।

आखिर विकट पर्वतीय स्थानों पर हमारे तीर्थ होने का रहस्य क्या है? इस बात पर जब गहराई से विचार करते हैं तो एक बात स्पष्ट होती है कि हमारे सभी तीर्थंकरों और वीतरागी सन्तों ने ध्यान के लिए गहन जंगलों और पर्वतों की चोटियों को ही चुना, उन्होंने अपना सम्पूर्ण साधु-जीवन गहन वनों और पर्वतों के उच्चतम शिखरों पर ही बिताया । जहाँ वे रहे, वही स्थान हमारे तीर्थ बन गये ।

अब हम जरा विचार करें कि आखिर वे अपने साधु-जीवन में गहन-वन एवं पर्वतीय प्रदेशों में ही क्यों रहे ? इसीलिए न कि वे ध्यान के लिए एकान्त चाहते थे । भाई, ध्यान एकान्त में ही होता है, भीड़-भाड़ में नहीं। सम्मेदशिखर पर तीर्थंकरों के निर्माणस्थलों (टोकों) को जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि वे ऐसे उच्चतम शिखर हैं कि जिनपर दो आदमी भी एकसाथ ढंग से बैठ भी नहीं सकते । इससे प्रतीत होता है कि वे ऐसे स्थान पर नहीं बैठना चाहते कि जहाँ बगल में आकर कोई और बैठ जाय । यदि अगल-बगल में कोई बैठा होगा तो उससे वार्तालाप का प्रसंग बन सकता है। जहाँ अनेक आदमी आस-पास होंगे तो बातें तो होंगी ही । यही कारण है कि उन्होंने ऐसा स्थान चुना कि दूसरा व्यक्ति पास में बैठ ही न सके ।

इसीप्रकार गर्मियों में भरी दोपहरी में भयंकर धूप में बैठकर ध्यान भी वे इसीलिए करते थे कि इतनी धूप में वहाँ आदमी तो क्या पशु-पक्षी भी आस-पास नहीं आयेगा तो उनका आत्मध्यान भी निर्विघ्न होगा । यदि धूपकाल में ध्यान के लिए वृक्ष की छाया में बैठते तो वहाँ यदि आदमी नहीं भी पहुँचते तो पशु-पक्षी तो पहुँच ही जाते । ध्यान में विघ्न पड़ने की संभावना को देखकर ही हमारे मुनिराज छाया में न बैठकर धूप में बैठते हैं। धूप में बैठने से कर्म खिरते हों – ऐसी कोई बात नहीं है ।

इन सब बातों का एक ही तात्पर्य है कि ध्यान के लिए एकान्त चाहिए, भीड़ नहीं ।

ध्यान के अभ्यास की भी जरूरत नहीं है, क्योंकि ध्यान का अभ्यास तो हमें है ही । ध्यान के बिना तो हम एक समय भी नहीं रहते हैं । दुकानदार ग्राहकों का, डॉक्टर मरीज का, वकील मुवक्किल का, प्रेमी प्रेमिका का, पत्नी पति का, माँ बेटे का, बेटा माँ का निरन्तर ध्यान करते ही हैं। ध्यान के बिना तो दुनिया का कोई काम ही संभव नहीं होता । यदि ध्यान न रखा जाय तो दूध उबल जाता है, रोटी जल जाती है, गाड़ी चूक जाती

है, जेब कट जाती है, बाल-बच्चे बिगड़ जाते हैं । भाई, हर काम में ध्यान तो रखना ही पड़ता है और हम बराबर रखते भी हैं, जगत में इसप्रकार की कोई भूल नहीं करते कि जिससे हमारा कोई काम बिगड़ जावे ।

मूलतः प्रश्न ध्यान का नहीं, उस ध्यान का है; जिससे हमें सुख और शान्ति की प्राप्ति हो, दुःखों का अन्त हो । दुःखों का अन्त करने वाला और असली सुख-शान्ति प्राप्त करानेवाला ध्यान आत्मध्यान ही है । अतः सवाल ध्यान का नहीं, आत्मध्यान का है, निज भगवान आत्मा के ध्यान का है, जिसके बिना हम सब अनन्त दुःखी हैं, भवसागर में भटक रहे हैं, दर-दर की ठोकरें खाते फिर रहे हैं।

त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा के दर्शन-ज्ञान पूर्वक जो ध्यान होता है; वह सहज होता है, उसमें अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती, पर जो ध्यान आत्मदर्शन-ज्ञान बिना मात्र बाहरी अभ्यास से किया जाता है, एक तो वह वास्तविक ध्यान होता ही नहीं, दूसरे उसमें बाहरी क्रिया भी निर्दोष नहीं हो सकती ।

जब एक बालिका किसी नाटक में पत्नी का पाठ करती है तो महीनों अभ्यास (रियर्सल) करना पड़ता है । महीनों के अभ्यास के बाद भी उसके अभिनय में वह बात नहीं आ पाती जो असली पत्नी के व्यवहार में होती है, कहीं न कहीं चूक हो ही जाती है; किन्तु जब वही बालिका वास्तविक पत्नी बनती है तो बिना अभ्यास के ही सब-कुछ सहज हो जाता है, उसके व्यवहार में कहीं कोई चूक नहीं होती, कृत्रिमता भी दिखाई नहीं देती; क्योंकि उसका वह व्यवहार अन्दर से बाहर आया हुआ होता है ।

आत्मध्यान करने के पूर्व उस आत्मा का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है, जिसका ध्यान करना है, जो ध्येय है । रंग, राग और भेद से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा ही एकमात्र ध्येय है, ध्यान करने

योग्य है । अतः सबसे पहले हमें आध्यात्मिक शास्त्रों के स्वाध्याय एवं आत्मज्ञानी गुरुओं के सहयोग से, सदुपदेश से निज भगवान आत्मा का स्वरूप गहराई से समझना चाहिए ।

सहस्राधिक जनसमुदाय की विशाल सभा में अनेक प्रवक्ताओं के बाद सबसे अन्त में हमारा दूसरा व्याख्यान "आत्मानुभव और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र" विषय पर हुआ, जिसने सभी लोगों में एक अभूतपूर्व हलचल पैदा करदी । परिणामस्वरूप लोगों के विशेष अनुरोध पर भोजन के तत्काल बाद एक हाल में चुने हुए शताधिक जिज्ञासुओं की उपस्थिति में उसी विषय पर हमें एक घण्टे से भी अधिक और भी बोलना पड़ा । चूँकि यह कार्यक्रम पहले से निश्चित नहीं था, अतः सभी लोगों को इसका लाभ नहीं मिल सका, क्योंकि उसीसमय अन्य कार्यक्रम भी चल रहे थे ।

सबकुछ मिलाकर इस सम्मेलन में पहुँच जाने से सबसे बड़ा लाभ तो यह मिला कि वीतरागी तत्त्वज्ञान उन लोगों तक भी पहुँचा, जिनतक पहुँचने की सहज संभावना नहीं थी; क्योंकि इस सम्मेलन में ऐसे भी बहुत लोग आये थे, जिन्होंने हमें तो कभी सुना ही नहीं था, इस वीतरागी तत्त्व को भी कभी नहीं सुना था और न कभी सुनने की संभावना ही थी । अब उनकी रुचि जागृत हो गई है, जिससे उनके जीवन में आध्यात्मिक मोड़ आने की पूरी-पूरी संभावना है ।

सम्मेलन के दौरान ही हमारा एक व्याख्यान हिन्दू-सोसाइटी में भी हुआ, जिसमें भारतीय संस्कृति और हिन्दूधर्म की कुछ विशेषताओं पर हुए हमारे इस व्याख्यान को इतना पसंद किया गया कि उस सभा में उपस्थित आधे से अधिक लोग हमारा व्याख्यान सुनने जैना के सम्मेलन में भी आये ।

इसके बाद हम यहाँ तीन दिन और ठहरे, २५ मई, १९८७ को विभिन्न स्थानों पर हमारे चार प्रवचन हुए ।

यहाँ एक विशाल जिन-मन्दिर बनाने का संकल्प किया गया है, जो शीघ्र ही बनकर तैयार हो जावेगा ।

शिकागो से २८ मई गुरुवार को मिनियापिलिस पहुँचे, जहाँ गतवर्ष की ही भाँति रामगडा के यहाँ ठहरे एवं हिन्दू मन्दिर में अहिंसा पर प्रवचन हुआ। २९ मई, १९८७ को रामगडा के घर पर ही प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये ।

मिनियापिलिस से सेन्टलुइस गये, जहाँ ३० मई शनिवार को दो कार्यक्रम रखे गये – दिन में १ बजे से ४ बजे तक वाशिंगटन विश्वविद्यालय के हाल में शताधिक लोगों की उपस्थिति में "भगवान महावीर और उनकी अहिंसा" पर एवं शाम को "आत्मानुभव" पर गिलानी साहब के घर पर । दोनों ही कार्यक्रम बड़े ही प्रभावक रहे।

उसके बाद ३१ मई रविवार को हम सिनसिनाटी पहुँचे, जहाँ विगतवर्षों की ही भाँति जैना के महामंत्री श्री सुलेख जैन के घर पर ठहरे एवं गुजराती समाज के हाल में प्रवचन रखा गया । दूसरा प्रवचन प्रमोद जवेरी के घर पर हुआ । शताधिक लोगों की उपस्थिति में आत्मानुभव पर हुए इन प्रवचनों के वीडियो कैसेट तैयार किये गये थे । ओडियो कैसेट तो प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक प्रवचन के अनेक होते ही हैं ।

इसके बाद २ जून को फिनिक्स पहुँचे, जहाँ किशोरभाई पारेख के घर ठहरे और २ व ३ जून को क्रमशः "भगवान महावीर और उनकी अहिंसा" व "आत्मानुभव" विषय पर प्रवचन हुए, ३ जून को दोपहर १.३० से ३.३० तक किशोरभाई के घर तत्त्वचर्चा रखी गई, जिसमें विविध विषयों पर अच्छी तत्त्वचर्चा हुई । वैसे तो प्रत्येक व्याख्यान के बाद चर्चा प्रतिदिन होती ही थी, पर लोगों को क्रमबद्धपर्याय आदि विषयों पर अनेक प्रश्न थे, उनके समाधान के लिए यह विशेष चर्चा रखी गई थी ।

यहाँ पर एक और धार्मिक संस्कार वाले इन्दौर के दम्पत्ति रहते हैं, जिनके नाम है डॉ. दिलीप वोवरा और सुमन वोवरा । वे हमें ४ जून को फिनिक्स से २०० मील दूर ग्रेट केनियन दिखाने ले गये । ग्रेट केनियन विश्व का

एक ऐसा अदभुत और अद्वितीय दर्शनीय प्राकृतिक स्थान है, जिसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहता । यहाँ मीलों गहरी एकदम सीधी-खड़ी खाइयाँ हैं, जिनमें एकदम खड़े नुकीले आकारों वाले अनेक प्राकृतिक स्तूप से खड़े हैं, जिनके सौन्दर्य को देखकर ही अनुभव किया जा सकता है, शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं है ।

इसके बाद हम ५ जून को लासएंजिल्स पहुँचे । यहाँ पर हम दो दिन रुके, २00 से भी अधिक लोगों की उपस्थिति में कॉलेज के हाल में 'कर्म' विषय पर हुए हमारे प्रवचन ने सभी को अत्यधिक प्रभावित किया । इस विषय पर लोग विस्तार से सुनना चाहते थे, पर समयाभाव से संभव नहीं हुआ ।

७ जून, १९८७ को सान्फ्रासिको पहुँचे । ७ जून को फ्रीमाउण्ट में हरेन्द्र एवं भावना शाह के घर पर प्रवचन रखा गया । ६५ लोगों की उपस्थिति में सम्पन्न इस कार्यक्रम में आत्मानुभव विषय पर बड़ा मार्मिक प्रवचन हुआ, तत्त्वचर्चा भी अच्छी रही । ८ जून, रविवार को सानहुजो में अशोक एवं सुरेखा पतरावाला के घर कार्यक्रम रखा गया । यह भी बहुत अच्छा रहा।

यहाँ हिम्मतभाई डगली एवं नवीनभाई दोधिया वीतराग-विज्ञान पाठशाला चलाते हैं, जिसमें बालबोध पाठमाला भाग - १ व २ पूरे हो चुके हैं, बालबोध पाठमाला भाग - ३ चल रहा है । यहाँ प्रवचन में एक भाई ने बताया कि यहाँ रुड़की (उत्तरप्रदेश-भारत) से आये एक भाई के नेतृत्व में एक नियमित स्वाध्याय गोष्ठी चलती है, जिसमें धर्म के दशलक्षण, छहढाला एवं सत्य की खोज का स्वाध्याय चल रहा है । इसीप्रकार की एक गोष्ठी और भी चलती है । समयाभाव के कारण हम उक्त गोष्ठियां देखने नहीं जा सके, पर उन गोष्ठियों के सदस्य हमारे प्रवचनों में अवश्य आये थे।

यहाँ से ९ जून को सियेटिल पहुँचे, जहाँ चन्द्रकान्तभाई एवं नलिनीबेन शाह के घर ठहरे । उस दिन उन्हीं के घर पर 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' विषय पर प्रवचन हुआ ।

१० जून को चन्द्रकान्तभाई के सुपुत्र एवं धर्मपत्नी नलिनी शाह हमें कार द्वारा कनाडा के सुन्दरतम शहर वैनकुँवर ले गये, जहाँ आनन्द जैन के घर पर प्रवचन रखा गया, जो बहुत ही प्रभावक रहा। ११ जून को वापिस सियेटिल आ गये और शाम को सियेटिल के एक उपनगर में एक भाई के घर प्रवचन रखा गया ।

यद्यपि इस यात्रा में क्षेत्र और काल के अनुरूप अनेक विषयों का प्रतिपादन हुआ, तथापि मेरे प्रिय आध्यात्मिक विषय की प्रमुखता तो सर्वत्र रही ही । जिन-अध्यात्म का मार्मिक विषय 'भगवान आत्मा और उसकी प्राप्ति का उपाय' तो लगभग सर्वत्र चर्चित रहा ही । उक्त विषय का प्रतिपादन करते हुए मैंने जो कुछ कहा, उसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है :-

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कहता है कि सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं । स्वभाव से तो सभी परमात्मा हैं ही, यदि अपने को जाने, पहिचाने और अपने में ही जम जाय, रम जाय तो प्रगटरूप से पर्याय में भी परमात्मा बन सकते हैं ।

जब यह कहा जाता है तो लोगों के हृदय में एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि जब 'सभी परमात्मा हैं' तो 'परमात्मा बन सकते हैं' — इसका क्या अर्थ है ? और यदि 'परमात्मा बन सकते हैं' — यह बात सही है तो फिर 'परमात्मा हैं' — इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है; क्योंकि बन सकना और होना — दोनों एकसाथ संभव नहीं हैं ।

भाई, इसमें असंभव तो कुछ भी नहीं है, पर ऊपर से देखने पर भगवान होने और हो सकने में कुछ विरोधाभास अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर सब बात एकदम स्पष्ट हो जाती है ।

एक सेठ था और उसका पाँच वर्ष का एक इकलौता बेटा । बस दो ही प्राणी थे । जब सेठ का अन्तिम समय आ गया तो उसे चिन्ता हुई कि यह छोटा-सा बालक इतनी विशाल सम्पत्ति को कैसे सम्भालेगा ? अतः उसने लगभग सभी सम्पत्ति बेचकर एक करोड़ रुपये इकट्ठे किये और अपने बालक के नाम पर बैंक में बीसवर्ष के लिए सावधि जमायोजना (फिक्स डिपाजिट) के अन्तर्गत जमा करा दिये । सेठ ने इस रहस्य को गुप्त ही रखा, यहाँ तक कि अपने पुत्र को भी नहीं बताया, मात्र एक अत्यन्त घनिष्ठ मित्र को इस अनुरोध के साथ बताया कि वह उसके पुत्र को यह बात तबतक न बताये, जबतक कि वह पच्चीस वर्ष का न हो जावे ।

पिता के अचानक स्वर्गवास के बाद वह बालक अनाथ हो गया और कुछ दिनों तक तो बची-खुची सम्पत्ति से आजीविका चलाता रहा, अन्त में रिक्शा चलाकर पेट भरने लगा । चौराहे पर खड़े होकर जोर-जोर से आवाज लगाता कि दो रुपये में रेलवे स्टेशन, दो रुपये में रेलवे स्टेशन,— ।

अब मैं आप सबसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि वह रिक्शा चलानेवाला बालक करोड़पति है या नहीं ?

क्या कहा ? नहीं । क्यों ?

क्योंकि करोड़पति रिक्शा नहीं चलाते और रिक्शा चलानेवाले बालक करोड़पति नहीं हुआ करते ।

अरे भाई, जब वह व्यक्ति ही करोड़पति नहीं होगा, जिसके करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं तो फिर और कौन करोड़पति होगा ? पर भाई बात यह है कि उसके करोड़पति होने पर भी हमारा मन उसे करोड़पति मानने को तैयार नहीं होता; क्योंकि रिक्शावाला करोड़पति हो – यह बात हमारे चित्त को सहज स्वीकार नहीं होती। आजतक हमने जिन्हें करोड़पति माना है, उनमें से किसी को भी रिक्शा चलाते नहीं देखा और करोड़पति रिक्शा

चलाये — यह हमें अच्छा भी नहीं लगता, क्योंकि हमारा मन ही कुछ इसप्रकार का बन गया है ।

'कौन करोड़पति है और कौन नहीं है ?' — यह जानने के लिए आजतक कोई किसी की तिजोरी के नोट गिनने तो गया नहीं, यदि जायेगा भी तो बतायेगा कौन ? बस बाहरी ताम-झाम देखकर ही हम किसी को भी करोड़पति मान लेते हैं । दस-पाँच नौकर-चाकर, मुनीम-गुमास्ते और बंगला, मोटरकार, कल-कारखाने देखकर ही हम किसी को भी करोड़पति मान लेते हैं, पर यह कोई नहीं जातना कि जिसे हम करोड़पति समझ रहे हैं, हो सकता है कि वह करोड़ों का कर्जदार हो । बैंक से करोड़ों रुपये उधार लेकर कल-कारखाने चल निकलते हैं और बाहरी ठाठ-बाट देखकर अन्य लोग भी सेठजी के पास पैसे जमा कराने लगते हैं । इसप्रकार गरीबों, विधवाओं, ब्रह्मचारियों के करोड़ों के ठाठ-बाट से हम उसे करोड़पति मान लेते हैं ।

इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जिसे हम करोड़पति साहूकार मान रहे हैं, वह लोगों के करोड़ों रुपये पचाकर दिवाला निकालने की योजना बना रहा हो ।

ठीक यही बात सभी आत्माओं को परमात्मा मानने के सन्दर्भ में भी है। हमारा मन इन चलते-फिरते, खाते-पीते, रोते-गाते चेतन आत्माओं को परमात्मा मानने को तैयार नहीं होता, भगवान मानने को तैयार नहीं होता। हमारा मन कहता है कि यदि हम भगवान होते तो फिर दर-दर की ठोकर क्यों खाते फिरते ? अज्ञानांधकार में डूबा हमारा अन्तर बोलता है कि हम भगवान नहीं है, हम तो दीन-हीन प्राणी हैं; क्योंकि भगवान दीन-हीन नहीं होते और दीन-हीन भगवान नहीं होते ।

अबतक हमने भगवान के नाम पर मन्दिरों में विराजमान उन प्रतिमाओं के ही भगवान के रूप में दर्शन किये हैं, जिनके सामने हजारों लोग मस्तक टेकते हैं, भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं; यही कारण है कि हमारा मन

डाटे-फटकारे जाने वाले जनसामान्य को भगवान मानने को तैयार नहीं होता। हम सोचते हैं कि ये भी कोई भगवान हो सकते हैं क्या ? भगवान तो वे हैं, जिनकी पूजा की जाती है, भक्ति की जाती है । सच बात तो यह है कि हमारा मन ही कुछ ऐसा बन गया है कि उसे यह स्वीकार नहीं कि कोई दीन-हीन जन भगवान बन जावे । अपने आराध्य को दीन-हीन दशा में देखना भी हमें अच्छा नहीं लगता ।

भाई, भगवान भी दो तरह के होते हैं – एक तो वे अरहंत और सिद्ध परमात्मा, जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं और उन मूर्तियों के माध्यम से हम उन मूर्तिमान परमात्मा की उपासना करते हैं, पूजन-भक्ति करते हैं; जिस पथ पर वे चले, उस पथ पर चलने का संकल्प करते हैं, भावना भाते हैं । ये अरहंत और सिद्ध कार्यपरमात्मा कहलाते हैं ।

दूसरे, देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा भी परमात्मा हैं, भगवान हैं, इन्हें कारणपरमात्मा कहा जाता है ।

जो भगवान मूर्तियों के रूप में मन्दिरों में विराजमान हैं; वे हमारे पूज्य हैं, परमपूज्य हैं; अतः हम उनकी पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं, गुणानुवाद करते हैं; किन्तु देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय है; अतः निज भगवान को जानना, पहिचानना और उसका ध्यान करना ही उसकी आराधना है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति इस निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है; क्योंकि निश्चय से निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है, उसे ही निज मानना, 'यही मैं हूँ' – ऐसी प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और उसका ही ध्यान करना, उसी में जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना सम्यक्चारित्र है ।

अष्टद्रव्य से पूजन मन्दिर में विराजमान 'पर-भगवान' की की जाती है और ध्यान शरीररूपी मन्दिर में विराजमान 'निज-भगवान' आत्मा का किया जाता है । यदि कोई व्यक्ति निज-आत्मा को भगवान मानकर मन्दिर में

विराजमान भगवान के समान स्वयं की भी अष्ट द्रव्य से पूजन करने लगे तो उसे व्यवहार-विहीन ही माना जायगा; वह व्यवहारकुशल नहीं, अपितु व्यवहारमूढ़ ही है ।

इसीप्रकार यदि कोई व्यक्ति आत्मोपलब्धि के लिए ध्यान भी मन्दिर में विराजमान भगवान का ही करता रहे तो उसे भी विकल्पों की ही उत्पत्ति होती रहेगी, निर्विकल्प आत्मानुभूति कभी नहीं होगी; क्योंकि निर्विकल्प आत्मानुभूति निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है । निर्विकल्प आत्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति भी नहीं होगी । — इसप्रकार उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का आरम्भ ही नहीं होगा ।

जिसप्रकार वह रिक्शावाला बालक रिक्शा चलाते हुए भी करोड़पति है, उसीप्रकार दीन-हीन हालत में होने पर भी हम सभी स्वभाव से ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान हैं, कारण परमात्मा हैं — यह जानना-मानना उचित ही है ।

इस सन्दर्भ में मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि भारत में अभी किसका राज है ?

"कांग्रेस का"

"क्या कहा, कांग्रेस का ?

नहीं भाई ! यह ठीक नहीं है; कांग्रेस तो एक पार्टी है, भारत में राज तो जनता-जनार्दन का है; क्योंकि जनता जिसे चुनती है, वही भारत का शासन चलाता है; अतः राज तो जनता-जनार्दन का ही है।"

उक्त सन्दर्भ में जब हम जनता को जनार्दन (भगवान) कहते हैं तो कोई नहीं कहता कि जनता तो जनता है, वह जनार्दन अर्थात् भगवान कैसे हो सकती है ? पर जब तात्त्विक चर्चा में यह कहा जाता है कि हम सभी भगवान हैं तो हमारे चित्त में अनेक प्रकार की शंकाएँ-

आशंकाएँ खड़ी हो जाती हैं, पर भाई गहराई से विचार करें तो स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा ही है—इसमें शंका-आशंकाओं को कोई स्थान नहीं है ।

प्रश्न : यदि यह बात है तो फिर ये ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा वर्तमान में अनन्त दुःखी क्यों दिखाई दे रहे हैं ?

उत्तर : अरे भाई, ये सब भूले हुए भगवान हैं, स्वयं को – स्वयं की सामर्थ्य को भूल गये हैं; इसीकारण सुखस्वभावी होकर भी अनन्तदुःखी हो रहे हैं । इनके दुःख का मूल कारण स्वयं को नहीं जानना, नहीं पहिचानना ही है । जब ये स्वयं को जानेंगे, पहिचानेंगे एवं स्वयं में ही जम जायेंगे, रम जायेंगे; तब स्वयं ही अनन्तसुखी भी हो जावेंगे ।

जिसप्रकार वह रिक्शा चलानेवाला बालक करोड़पति होने पर भी यह नहीं जानता है कि 'मैं स्वयं करोड़पति हूँ' – इसीकारण दरिद्रता का दुःख भोग रहा है । यदि उसे यह पता चल जावे कि मैं तो करोड़पति हूँ, मेरे करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं तो उसका जीवन ही परिवर्तित हो जावेगा । उसीप्रकार जबतक यह आत्मा स्वयं के परमात्मस्वरूप को नहीं जानता-पहिचानता है, तभीतक अनन्तदुःखी है; जब यह आत्मा अपने परमात्मस्वरूप को भलीभाँति जान लेगा, पहिचान लेगा तो इसके दुःख दूर होने में भी देर न लगेगी ।

कंगाल के पास करोड़ों का हीरा हो, पर वह उसे काँच का टुकड़ा समझता हो या चमकदार पत्थर मानता हो तो उसकी दरिद्रता जाने वाली नहीं है; पर यदि वह उसकी सही कीमत जानले तो दरिद्रता एक क्षण भी उसके पास टिक नहीं सकती, उसे विदा होना ही होगा । इसीप्रकार यह आत्मा स्वयं भगवान होने पर भी यह नहीं जानता कि मैं स्वयं भगवान हूँ। यही कारण है कि यह अनन्त काल से अनन्त दुःख उठा रहा है । जिस दिन यह आत्मा यह जान लेगा कि मैं स्वयं भगवान ही हूँ, उस दिन उसके दुःख दूर होते देर न लगेगी ।

इससे यह बात सहज सिद्ध होती है कि होने से भी अधिक महत्त्व जानकारी होने का है, ज्ञान होने का है । होने से क्या होता है ? होने को तो यह आत्मा अनादि से ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा ही है, पर इस बात की जानकारी न होने से, ज्ञान न होने से ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान होने का कोई लाभ इसे प्राप्त नहीं हो रहा है । होने को तो वह रिक्शा चलानेवाला बालक भी गर्भश्रीमन्त है, जन्म से ही करोड़पति है; पर पता न होने से दो रोटियों की खातिर उसे रिक्शा चलाना पड़ रहा है । यही कारण है कि जिनागम में सम्यग्ज्ञान के गीत दिल खोलकर गाये हैं । कहा गया है कि –

"ज्ञान समान न आन जगत में सुख कौ कारण ।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण ॥[१]

इस जगत में ज्ञान के समान अन्य कोई भी पदार्थ सुख देनेवाला नहीं है । यह ज्ञान जन्म, जरा और मृत्यु रूपी रोग को दूर करने के लिए परम-अमृत है, सर्वोत्कृष्ट औषधि है ।"

और भी देखिए –

"जो पूरब शिव गये जाहिं अरु आगे जैहैं ।
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनी नाथ कहै हैं ॥[२]

आजतक जितने भी जीव अनन्त सुखी हुए हैं अर्थात् मोक्ष गये हैं या जा रहे हैं अथवा भविष्य में जावेंगे, वह सब ज्ञान का ही प्रताप है – ऐसा मुनियों के नाथ जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ।"

सम्यग्ज्ञान की तो अनन्त महिमा है ही, पर सम्यग्दर्शन की महिमा जिनागम में उससे भी अधिक बताई गई है, गाई गई है ।

क्यों और कैसे ?

---

१. पण्डित दौलतराम : छहढाला, चतुर्थ ढाल, छन्द ४
2. पण्डित दौलतराम : छहढाला, चतुर्थ ढाल, छन्द ८

मानलो रिक्शा चलानेवाला वह करोड़पति बालक अब २५ वर्ष का युवक हो गया है । उसके नाम जमा करोड़ रुपयों की अवधि समाप्त हो गई है, फिर भी कोई व्यक्ति बैंक से रुपये लेने नहीं आया । अतः बैंक ने समाचार-पत्रों में सूचना प्रकाशित कराई कि अमुक व्यक्ति के इतने रुपये बैंक में जमा हैं, वह एक माह के भीतर आकर ले जावे । यदि कोई व्यक्ति एक माह के भीतर नहीं आया तो लावारिस समझकर रुपये सरकारी खजाने में जमा करा दिये जावेंगे ।

उस समाचार को उस युवक ने भी पढ़ा और उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा, पर उसकी वह प्रसन्नता क्षणिक साबित हुई, क्योंकि अगले ही क्षण उसके हृदय में सशय के बीज अंकुरित हो गये । वह सोचने लगा कि मेरे नाम इतने रुपये बैंक में कैसे हो सकते हैं ? मैंने तो कभी जमा कराये ही नहीं । मेरा तो किसी बैंक में कोई खाता भी नहीं है । फिर भी उसने वह समाचार दुबारा बारीकी से पढ़ा तो पाया कि वह नाम तो उसी का है, पिता के नाम के स्थान पर भी उसी के पिता का नाम अंकित है; कुछ आशा जागृत हुई, किन्तु अगले क्षण ही उसे विचार आया कि हो सकता है, इसी नाम का कोई दूसरा व्यक्ति हो और सहज संयोग से ही उसके पिता का नाम भी यही हो । इसप्रकार वह फिर शंकाशील हो उठा ।

इसप्रकार जानकर भी उसे प्रतीति नहीं हुई, इस बात का विश्वास जागृत नहीं हुआ कि ये रुपये मेरे ही हैं । अतः जान लेने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ । इससे सिद्ध होता है कि प्रतीति बिना, विश्वास बिना जान लेने मात्र से भी कोई लाभ नहीं होता । अतः ज्ञान से भी अधिक महत्त्व श्रद्धान का है, विश्वास का है, प्रतीति का है ।

इसीप्रकार शास्त्रों में पढ़कर हम सब यह जान तो लेते हैं कि आत्मा ही परमात्मा है (अप्पा सो परमप्पा), पर अन्तर में यह विश्वास जागृत नहीं होता कि मैं स्वयं ही परमात्मस्वरूप हूँ, परमात्मा हूँ, भगवान हूँ । यही

कारण है कि यह बात जान लेने पर भी कि मैं स्वयं परमात्मा हूँ, सम्यक्श्रद्धान बिना दुःख का अन्त नहीं होता, चतुर्गतिभ्रमण समाप्त नहीं होता, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती ।

समाचार-पत्र में उक्त समाचार पढ़कर वह युवक अपने साथियों को भी बताता है । उन्हें समाचार दिखाकर कहता है कि 'देखो, मैं करोड़पति हूँ। अब तुम मुझे गरीब रिक्शेवाला नहीं समझना ।' – इसप्रकार कहकर वह अपना और अपने साथियों का मनोरंजन करता है, एकप्रकार से स्वयं अपनी हँसी उड़ाता है । इसीप्रकार शास्त्रों में से पढ़-पढ़कर हम स्वयं अपने साथियों को भी सुनाते हैं । कहते हैं – 'देखो हम सभी स्वयं भगवान हैं, दीन-हीन मनुष्य नहीं ।' – इसप्रकार की आध्यात्मिक चर्चाओं द्वारा हम स्वयं का और समाज का मनोरंजन तो करते हैं, पर सम्यक्श्रद्धान के अभाव में भगवान होने का सही लाभ प्राप्त नहीं होता, आत्मानुभूति नहीं होती, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती, आकुलता समाप्त नहीं होती ।

इसप्रकार अज्ञानीजनों की आध्यात्मिक चर्चा भी आत्मानुभूति के बिना, सम्यग्ज्ञान के बिना, सम्यक्श्रद्धान के बिना मात्र बौद्धिक व्यायाम बनकर रह जाती है ।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो जाने के उपरान्त भी जब कोई व्यक्ति पैसे लेने बैंक में नहीं आया तो बैंकवालों ने रेडियो स्टेशन से घोषणा कराई। रेडियो स्टेशन को भारत में आकाशवाणी कहते हैं । अतः आकाशवाणी हुई कि अमुक व्यक्ति के इतने रुपये बैंक में जमा हैं, वह एकमाह के भीतर ले जावे, अन्यथा लावारिस समझकर सरकारी खजाने में जमा करा दिये जावेंगे ।

आकाशवाणी की उस घोषणा को रिक्शे पर बैठे-बैठे उसने भी सुनी, अपने साथियों को भी सुनाई, पर विश्वास के अभाव में कोई लाभ नहीं हुआ। इसीप्रकार अनेक प्रवक्ताओं से इस बात को सुनकर भी कि हम सभी स्वयं भगवान हैं, विश्वास के अभाव में बात वहीं की वहीं रही । जीवनभर

जिनवाणी सुनकर भी, पढ़कर भी, आध्यात्मिक चर्चायें करके भी आत्मानुभूति से अछूते रह गये।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित एवं आकाशवाणी से प्रसारित उक्त समाचार की ओर जब स्वर्गीय सेठजी के उन अभिन्न मित्र का ध्यान गया, जिन्हें उन्होंने मरते समय उक्त रहस्य की जानकारी दी थी, तो वे तत्काल उस युवक के पास पहुँचे और बोले –

"बेटा ! तुम रिक्शा क्यों चलाते हो ?"

उसने उत्तर दिया – "यदि रिक्शा न चलायें तो खायेंगे क्या ?"

उन्होंने समझाते हुए कहा – "भाई, तुम तो करोड़पति हो, तुम्हारे तो करोड़ों रुपये बैंक में जमा है ।"

अत्यन्त गमगीन होते हुए युवक कहने लगा –

"चाचाजी, आपसे ऐसी आशा नहीं थी, सारी दुनिया तो हमारा मज़ाक उड़ा ही रही है, पर आप तो बुजुर्ग हैं, मेरे पिता के बराबर हैं; आप भी------।"

वह अपनी बात समाप्त ही न कर पाया था कि उसके माथे पर हाथ फेरते हुए अत्यन्त स्नेह से वे कहने लगे –

"नहीं भाई, मैं तेरी मज़ाक नहीं उड़ा रहा हूँ । तू सचमुच ही करोड़पति है । जो नाम समाचार-पत्रों में छप रहा है, वह तेरा ही नाम है ।"

अत्यन्त विनयपूर्वक वह बोला – "ऐसी बात कहकर आप मेरे चित्त को व्यर्थ ही अशान्त न करें । मैं मेहनत-मजदूरी करके दो रोटियाँ पैदा करता हूँ और आराम से जिन्दगी बसर कर रहा हूँ । मेरी महत्त्वाकांक्षा को जगाकर आप मेरे चित्त को क्यों उद्वेलित कर रहे हैं । मैंने तो कभी कोई रुपये बैंक में जमा कराये ही नहीं । अतः मेरे रुपये बैंक में जमा कैसे हो सकते हैं ?"

अत्यन्त गद्गद् होते हुए वे कहने लगे – "भाई तुम्हें पैसे जमा कराने की क्या आवश्यकता थी ? तुम्हारे पिताजी स्वयं बीस वर्ष पहिले तुम्हारे नाम एक करोड़ रुपये बैंक में जमा करा गये हैं, जो अब ब्याज सहित दश करोड़ से भी अधिक हो गये होंगे । मरते समय यह बात वे मुझे बता गये थे ।"

यह बात सुनकर वह एकदम उत्तेजित हो गया । थोड़ा-सा विश्वास उत्पन्न होते ही उसमें करोड़पतियों के लक्षण उभरने लगे । वह एकदम गर्म होते हुए बोला – "यदि यह बात सत्य है तो आपने अभी तक हमें क्यों नहीं बताया ?"

वे समझाते हुए कहने लगे – "उत्तेजित क्यों होते हो ? अब तो बता दिया । पीछे की जाने दो, अब आगे की सोचो ।"

"पीछे की क्यों जाने दो ? हमारे करोड़ों रुपये बैंक में पड़े रहे और हम दो रोटियों के लिये मुँहताज हो गये । हम रिक्शा चलाते रहे और आप देखते रहे । यह कोई साधारण बात नहीं है, जो ऐसे ही छोड़ दी जावे; आपको इसका जवाब देना ही होगा ।"

"तुम्हारे पिताजी मना कर गये थे ।"

"आखिर क्यों ?"

"इसलिए कि बीस वर्ष पहले तुम्हें रुपये तो मिल नहीं सकते थे । पता चलने पर तुम रिक्शा भी न चला पाते और भूखों मर जाते ।"

"पर उन्होंने ऐसा किया ही क्यों ?"

"इसलिए कि नाबालिगी की अवस्था में कहीं तुम यह सम्पत्ति बर्बाद न कर दो और फिर जीवनभर के लिए कंगाल हो जावो । समझदार हो जाने पर तुम्हें ब्याज सहित आठ-दश करोड़ रुपये मिल जावें और तुम आराम

से रह सको । तुम्हारे पिताजी ने यह सब तुम्हारे हित में ही किया है। अतः उत्तेजना में समय खराब मत करो । आगे की सोचो ।"

इसप्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी सच्ची जानकारी और उस पर पूरा विश्वास जागृत हो जाने पर उस रिक्शेवाले युवक का मानस एकदम बदल जाता है, दरिद्रता के साथ का एकत्व टूट जाता है एवं 'मैं करोड़पति हूँ' – ऐसा गौरव का भाव जागृत हो जाता है, आजीविका की चिन्ता न मालूम कहाँ चली जाती है, चेहरे पर सम्पन्नता का भाव स्पष्ट झलकने लगता है ।

इसीप्रकार शास्त्रों के पठन, प्रवचनों के श्रवण और अनेक युक्तियों के अवलम्बन से ज्ञान में बात स्पष्ट हो जाने पर भी अज्ञानीजनों को इसप्रकार का श्रद्धान उदित नहीं होता कि ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकन्द, शक्तियों का संग्रहालय, अनन्त गुणों का गोदाम भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ । यही कारण है कि श्रद्धान के अभाव में उक्त ज्ञान का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता।

काललब्धि आने पर किसी आसन्नभव्य जीव को परमभाग्योदय से किसी आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्मा का सहज समागम प्राप्त होता है और वह ज्ञानी धर्मात्मा उसे अत्यन्त वात्सल्य भाव से समझाता है कि हे आत्मन् ! तू स्वयं भगवान है, तू अपनी शक्तियों को पहिचान, पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य को देख, सम्पूर्ण जगत पर से दृष्टि हटा और स्वयं में ही समा जा, उपयोग को यहाँ-यहाँ न भटका, अन्तर में जा, तुझे निज परमात्मा के दर्शन होंगे ।

ज्ञानी गुरु की करुणा-विगलित वाणी सुनकर वह निकटभव्य जीव कहता है –

"प्रभो ! यह आप क्या कह रहे हैं, मैं भगवान कैसे हो सकता हूँ ? मैंने तो जिनागम में बताये भगवान बनने के उपाय का अनुशरण आजतक किया ही नहीं है । न जप किया, न तप किया, न व्रत पाले

और न स्वयं को जाना-पहिचाना – ऐसी अज्ञानी-असंयत दशा में रहते हुए मैं भगवान कैसे बन सकता हूँ ?"

अत्यन्त स्नेहपूर्वक समझाते हुए ज्ञानी धर्मात्मा कहते हैं –

"भाई, ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है । स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है । – ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जमजाना, रमजाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है । तू एकबार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायगा, लीन हो जायगा, समाधिस्थ हो जायगा । ऐसा होनेपर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख ।"

"यदि ऐसी बात है तो आजतक किसी ने क्यों नहीं बताया ?"

"जाने भी दे, इस बात को, आगे की सोच ।"

"क्यों जाने दें ? इस बात को जाने बिना हम अनन्त दुःख उठाते रहे, स्वयं भगवान होकर भी भोगों के भिखारी बने रहे, और किसी ने बताया तक नहीं ।"

"अरे भाई, जगत को पता हो तो बताये, और ज्ञानी तो बताते ही रहते हैं, पर कौन सुनता है उनकी; काललब्धि आये बिना किसी का ध्यान ही नहीं जाता इस ओर । सुन भी लेते हैं तो इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं, ध्यान नहीं देते । समय से पूर्व बताने से किसी को कोई लाभ भी नहीं होता । अतः अब जाने भी दो पुरानी बातों को, आगे की सोचो । स्वयं के परमात्मस्वरूप को पहिचानो, स्वयं के परमात्मस्वरूप

को जानो और स्वयं में समा जावो । सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

कहते-कहते गुरु स्वयं में समा जाते हैं और वह भव्यात्मा भी स्वयं में समा जाता है । जब उपयोग बाहर आता है तो उसके चेहरे पर अपूर्व शान्ति होती है, संसार की थकान पूर्णतः उतर चुकी होती है, पर्याय की पामरता का कोई चिन्ह चेहरे पर नहीं होता, स्वभाव की सामर्थ्य का गौरव अवश्य झलकता है ।

आत्मज्ञान, श्रद्धान एवं आंशिक लीनता से आरम्भ मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ वह भव्यात्मा चक्रवर्ती की सम्पदा और इन्द्रों जैसे भोगों को भी तुच्छ समझने लगता है । कहा भी है –

"चक्रवर्ती की सम्पदा अर इन्द्र सारिखे भोग ।
कागवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग ।।"

पिता के मित्र रिक्शेवाले युवक से यह बात रिक्शा स्टेण्ड पर ही कर रहे थे । उनकी यह सब बात रिक्शे पर बैठे-बैठे ही हो रही थी । इतने में एक सवारी ने आवाज दी –

"ऐ रिक्शेवाले ! स्टेशन चलेगा ?"

उसने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया – "नहीं ।"

"क्यों ? चलो न भाई, जरा जल्दी जाना है, दो रुपये की जगह पाँच रुपये लेना, पर चलो, जल्दी चलो ।"

"नहीं; नहीं जाना, एक बार कह दिया न ।"

"कह दिया पर ......"

उसकी बात जाने दो, अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि क्या वह अब भी सवारी ले जायगा ? यदि ले जायेगा तो कितने में ? दस रुपये में, बीस रुपये में ......?

क्या कहा, कितने ही रुपये दो, पर अब वह रिक्शा नहीं चलायेगा ।

"क्यों ?"

"क्योंकि अब वह करोड़पति हो गया है ।"

"अरे भाई, अभी तो मात्र पता ही चला है, अभी रुपये हाथ में कहाँ आये हैं ?"

"कुछ भी हो, अब उससे रिक्शा नहीं चलेगा, क्योंकि करोड़पति रिक्शा नहीं चलाया करते ।"

इसीप्रकार जब किसी व्यक्ति को आत्मानुभवपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो जाता है, तब उसके आचरण में भी अन्तर आ ही जाता है । यह बात अलग है कि वह तत्काल पूर्ण संयमी या देश संयमी नहीं हो जाता, फिर भी उसके जीवन में अन्याय, अभक्ष्य एवं मिथ्यात्व पोषक क्रियाएँ नहीं रहती हैं । उसका जीवन शुद्ध सात्विक हो जाता है, उससे हीन काम नहीं होते।

वह युवक सवारी लेकर स्टेशन तो नहीं जावेगा, पर उस सेठ के घर रिक्शा वापिस देने और किराया देने तो जावेगा ही, जिसका रिक्शा वह किराये पर लाया था । प्रतिदिन शाम को रिक्शा और किराये के दस रुपये दे आने पर ही उसे अगले दिन रिक्शा किराये पर मिलता था । यदि कभी रिक्शा और किराया देने न जा पावे तो सेठ घर पर आ धमकता था, मुहल्ले वालों के सामने उसकी इज्जत उतार देता था ।

आज वह सेठ के घर रिक्शा देने भी न जावेगा । उसे वहीं ऐसा ही छोड़कर चल देगा । तब फिर क्या वह सेठ उसके घर जायगा ?

हाँ जायगा, अवश्य जायगा; पर रिक्शा लेने नहीं, रुपये लेने नहीं; अपनी लड़की का रिश्ता लेकर जायगा; क्योंकि यह पता चल जाने पर कि इसके

करोड़ों रुपये बैंक में जमा है, कौन उसे अपनी कन्या देकर कृतार्थ न होना चाहेगा?

इसीप्रकार किसी व्यक्ति को आत्मानुभव होता है तो उसके अन्तर की हीन भावना तो समाप्त हो ही जाती है, पर सातिशय पुण्य के प्रताप से लोक में भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, लोक भी उसके सद्व्यवहार से प्रभावित होता है । ऐसा सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ।

ज्ञात हो जाने पर भी जिसप्रकार कोई असभ्य व्यक्ति उस रिक्शे वाले से रिक्शेवालों जैसा व्यवहार भी कदाचित् कर सकता है; उसीप्रकार कुछ अज्ञानीजन उन ज्ञानी धर्मात्माओं से भी कदाचित् असद्व्यवहार कर सकते हैं, करते भी देखे जाते हैं; पर यह बहुत कम होता है ।

यद्यपि अभी वह वही मैला-कुचेला फटा कुर्ता पहने है, मकान भी टूटा-फूटा ही है; क्योंकि ये सब तो तब बदलेंगे, जब रुपये हाथ में आ जावेंगे । कपड़े और मकान श्रद्धा-ज्ञान से नहीं बदले जाते, उनके लिए तो पैसे चाहिए, पैसे; तथापि उसके चित्त में आप कहीं भी दरिद्रता की हीन भावना का नामोनिशान भी नहीं पायेंगे ।

उसीप्रकार जीवन तो सम्यक्चारित्र होने पर बदलेगा, अभी तो असंयमरूप व्यवहार ही ज्ञानी धर्मात्मा के देखा जाता है, पर उनके चित्त में रंचमात्र भी हीन भावना नहीं रहती, वे स्वयं को भगवान ही अनुभव करते हैं।

जिसप्रकार उस युवक के श्रद्धा और ज्ञान में तो यह बात एक क्षण में आ गई कि मैं करोड़पति हूँ पर करोड़पतियों जैसे रहन-सहन में अभी वर्षों लग सकते हैं। पैसा हाथ में आ जाय, तब मकान बनना आरम्भ हो, उसमें भी समय तो लगेगा ही । उस युवक को अपना जीवन-स्तर उठाने की जल्दी तो है, पर अधीरता नहीं; क्योंकि जब पता चल गया है तो रुपये भी अब मिलेंगे ही; आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों; बरसों लगनेवाले नहीं हैं ।

उसीप्रकार श्रद्धा और ज्ञान तो क्षणभर में परिवर्तित हो जाते हैं, पर जीवन में संयम आने में समय लग सकता है । संयम धारण करने की जल्दी तो प्रत्येक ज्ञानी धर्मात्मा को रहती ही है, पर अधीरता नहीं होती; क्योंकि जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान और संयम की रुचि (अंश) जग गई है तो इसी भव में, इस भव में नहीं तो अगले भव में, उसमें नहीं तो उससे अगले भव में, संयम भी आयेगा ही; अनन्तकाल यों ही जानेवाला नहीं है ।

अतः हम सभी का यह परम पावन कर्तव्य है कि हम सब स्वयं को सही रूप में जाने, सही रूप में पहिचानें, इस बात का गहराई से अनुभव करें कि स्वभाव से तो हम सभी सदा से ही भगवान ही हैं – इसमें शंका-आशंका के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है । रही बात पर्याय की पामरता की, सो जब हम अपने परमात्मस्वरूप का सम्यग्ज्ञान कर उसी में अपनापन स्थापित करेंगे, अपने ज्ञानोपयोग (प्रगटज्ञान) को भी सम्पूर्णतः उसी में लगा देंगे, स्थापित कर देंगे और उसी में लीन हो जावेंगे, जम जावेंगे, रम जावेंगे, समा जावेंगे, समाधिस्थ हो जावेंगे तो पर्याय में भी परमात्मा (अरहंत-सिद्ध) बनते देर न लगेगी ।

अरे भाई ! जैनदर्शन के इस अद्भुत परमसत्य को एकबार अन्तर की गहराई से स्वीकार तो करो कि स्वभाव से हम सभी भगवान ही है । पर और पर्याय से अपनापन तोड़कर एकबार द्रव्य-स्वभाव में अपनापन स्थापित तो करो, फिर देखना अन्तर में कैसी क्रान्ति होती है, कैसी अद्भुत और अपूर्व शान्ति उपलब्ध होती है, अतीन्द्रिय आनन्द का कैसा झरना झरता है ।

इस अद्भुत सत्य का आनन्द मात्र बातों से आनेवाला नहीं है, अन्तर में इस परमसत्य के साक्षात्कार से ही अतीन्द्रिय आनन्द का दरिया उमड़ेगा। उमड़ेगा, अवश्य उमड़ेगा; एकबार सच्चे हृदय से सम्पूर्णतः समर्पित होकर निज भगवान आत्मा की आराधना तो करो, फिर देखना क्या होता है ?

बातों में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है । अतः यह मंगलभावना भाते हुए विराम लेता हूँ कि सभी आत्माएं स्वयं के परमात्मस्वरूप को जानकर, पहिचानकर स्वयं में ही जमकर, रमकर अनन्त सुख-शान्ति को शीघ्र ही प्राप्त करे ।

इसप्रकार का एक व्याख्यान तो लगभग सभी स्थानों पर हुआ ही ।

१२ जून, १९८७ को हम वाशिंगटन डी. सी. पहुँचे, जहाँ प्रतिवर्ष की भाँति शिविर आयोजित था । जो भाई शिविर में सम्मिलित नहीं हो पाते हैं, उनकी सुविधा को ध्यान में रखकर १२ जून की शाम कॉलेज के एक हाल में कार्यक्रम रखा गया । इसमें आत्मानुभव पर बड़ा ही मार्मिक प्रवचन हुआ, जिससे शिविर में आनेवालों की संख्या में भी वृद्धि हुई । शिविर में न्यूजर्सी, टोरन्टों आदि स्थानों से भी अनेक लोग आये थे ।

शिविर में प्रतिपादित विषयवस्तु के सन्दर्भ में वाशिंगटन डी.सी. से प्रकाशनार्थ प्राप्त समाचार का सारांश दे देना ही उपयुक्त प्रतीत होता है, जो इसप्रकार है –

"जैन सोसाइटी ऑफ मेट्रोपालिटन, वाशिंगटन ने १३ जून, १९८७ से १५ जून, १९८७ तक सुन्दरतम पर्वतीय प्रदेश में स्थित सेन्टमेरी कॉलेज में एक प्रौढ़ धार्मिक शिक्षण-शिविर का आयोजन किया, जिसमें प्रसिद्ध दार्शनिक विचारक एवं आध्यात्मिक प्रवक्ता डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल से विभिन्न जैन सिद्धान्तों को सरल भाषा व सरस शैली में समझकर सभी को अभूतपूर्व आनन्द हुआ।

प्रथम दिन द्रव्य-गुण-पर्याय पर दो व्याख्यान एवं चर्चा हुई, जिसमें प्रवचनसार गाथा ८० का मुख्य आधार रहा । इसी दिन एक शिविरार्थी के अनुरोध पर तीसरा व्याख्यान समयसार गाथा १४ पर हुआ, जो बहुत ही प्रेरक रहा; इसीप्रकार प्रश्नोत्तर भी अच्छे रहे । रात्रि में जनरल प्रश्नोत्तर

चले । इसदिन एक कक्षा गुणमाला भारिल्ल ने मोक्षमार्गप्रकाशक व छहढाला के आधार पर साततत्त्वों की भूल के सम्बन्ध में ली ।

१४ जून, १९८७ ई. को समयसार गाथा ११ पर एक व्याख्यान तथा उसी के सन्दर्भ में मोक्षमार्गप्रकाशक के आधार पर शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति पर दूसरा व्याख्यान हुआ । प्रश्नोत्तर भी हुए । इसीदिन एक व्याख्यान अनेकान्त और स्याद्वाद विषय पर भी हुआ । रात्रि में जनरल प्रश्नोत्तर हुए।

१५ जून, १९८७ को भगवान महावीर के बाद हुए संघभेद पर विस्तार से प्रकाश डाला गया । इसीदिन एक प्रवचन पाँच भावों (उपशम, क्षय, क्षयोपशम, उदय और परिणामिकभाव) पर हुआ । ध्यान रहे पाठशाला में वीतराग-विज्ञान पाठमाला पढ़ाते समय आई कठिनाई के कारण इस विषय पर व्याख्यान की माँग की गई थी ।

वहाँ पाठशाला में किस तरह पढ़ाया जाता है — यह बताने के लिए डॉ. भारिल्ल के सामने जयाबेन नागदा ने वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ में समागत कर्म वाला पाठ तथा कनूभाई ने साततत्त्व वाला पाठ पढ़ाया । डॉ. भारिल्ल ने आवश्यक सुझाव दिये । बालबोध पाठमाला भाग ३ की अप्रैल, १९८७ में हुई परीक्षा में उच्चस्थान प्राप्त करनेवालों को डॉ. भारिल्ल के हाथों पुरस्कृत किया गया ।

प्रतिदिन शिविर डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित जिनेन्द्र-वंदना के सस्वर सामूहिक पाठ से आरम्भ होता था । दिन में एकबार बारह भावनाओं का पाठ भी किया जाता था ।

शिविर के बाद वाशिंगटन में ही १६ जून, १९८७ ई. को शान्तिभाई के घर पर भक्तामर स्तोत्र पर प्रवचन व प्रश्नोत्तर हुए, जिसका वीडिओ कैसेट भी बनाया गया । वाशिंगटन शिविर के कैसेट अमेरीका के अनेक जैन सेन्टर एवं व्यक्तियों को भेजे गये हैं । आगामी वर्ष के शिविर के

लिए १ जुलाई, १९८८ से ४ जुलाई, १९८८ ई. तक के लिए अभी से स्थान सुरक्षित करा लिया गया है ।

ध्यान रहे, यहाँ पर प्रत्येक शनिवार और रविवार को नियमित धार्मिक कक्षाएँ चलती है जिनमें रजनीभाई गोशलिया, जयाबैन नागदा एवं कनूभाई शाह अध्यापन करते हैं । पाठशाला में जिनेन्द्र-वंदना एवं बारहभावना का पाठ भी किया जाता है ।

उसके बाद १७ जून, १९८७ ई. को डिट्रोयट पहुँचे, जहाँ अशोक चौकसी एवं डॉ. लीना चौकसी के घर ठहरे । उन्हीं के यहाँ १७ एवं १८ जून को कार्यक्रम रखे गये, जिनमें आत्मानुभव की पूर्व भूमिका पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए तत्त्वनिर्णय की प्रक्रिया पर सोदाहरण तर्कसंगत विवेचन किया गया, प्रश्नोत्तर भी खूब हुए ।

१९ जून, १९८७ ई. को विन्डसर होते हुए टोरन्टो पहुँचे । वहाँ जैन सेन्टर के मन्दिर के हाल में २० जून, १९८७ ई. शनिवार को प्रातः ११ बजे से १ बजे तक, सायं ७ बजे से १० बजे तक एवं २१ जून, १९८७ रविवार को ४ से ६ बजे तक प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये थे, जो सभी सफल रहे ।

२१ जून, रविवार को वफेलो में ११ बजे से १ बजे तक जैन व हिन्दू कम्यूनिटी के संयुक्त तत्वावधान में हिन्दू कल्चर सेन्टर में शताधिक लोगों की उपस्थिति में अहिंसा पर मार्मिक प्रवचन हुआ ।

टोरन्टो से वापिस डिट्रोयट आये । वहाँ २२ जून को डॉ. अशोक जैन के घर पर, २३ जून को मीनू शाह के घर पर, २४ जून को प्रवीणशाह के घर पर एवं २५ जून को अनन्त कोरड़िया के घर पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम हुए । इसप्रकार डिट्रोयट में २ दिन पहले और ४ दिन ये कुल मिला कर ६ दिन कार्यक्रम हुए, जो अत्यधिक उपयोगी रहे, क्योंकि ये सभी प्रवचन तत्त्वप्रेमी व्यक्तियों के बीच हुए थे, इसलिए इनमें सहज ही गहरी आध्यात्मिक चर्चा होती रही ।

२६ जून, शुक्रवार को भाई बलभद्रजी हमें कार द्वारा शिकागो ले गये। २६ जून को ज्योतेन्द्रभाई के घर पर ही प्रवचन व चर्चा रखे गये । २७ जून शनिवार को कॉलेज के एक हाल में प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये। २८ जून परिवार को निरंजन शाह के घर पर प्रातः ९ बजे से ११ बजे तक कार्यक्रम हुआ ।

वहाँ के आत्मार्थी मुमुक्षु भाईयों के अनुरोध पर हम शिकागो दुबारा गये थे । इसप्रकार ६ दिन पहले और ३ दिन ये कुल मिलाकर शिकागो में ९ दिन कार्यक्रम हुए ।

वहाँ से कार द्वारा मिलवाकी पहुँचे, जहाँ २८ जून, रविवार को ही गतवर्ष की भाँति एक हाल में प्रवचन रखा गया था । प्रवचनोपरांत चर्चा भी बहुत अच्छी रही ।

मिलवाकी से २९ जून को अटलान्टा पहुँचे । वहाँ २९ जून को अश्विनभाई के घर और ३0 जून को भरतभाई शाह के घर पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये । अश्विनभाई एक प्रवचन सुनकर ही इतने प्रभावित हुए कि रातभर 'क्रमबद्धपर्याय' का स्वाध्याय करते रहे व दूसरे दिन उन्होंने हमसे उनके सम्बन्ध में अनेक प्रश्न भी किये ।

एटलान्टा से न्यू-ओरलेन्स गये, जहाँ हरख दोधिया के घर ठहरे । यहाँ १ जुलाई, १९८७ को विश्वविद्यालय के हाल में २00 से अधिक लोगों की उपस्थिति में अहिंसा पर मार्मिक प्रवचन हुआ । इस प्रवचन में अनेक हिन्दूभाई भी आये थे, क्योंकि इसमें हमारे साथ स्वामी नारायण सम्प्रदाय के संत आत्मस्वरूपजी एवं उनके साथियों के प्रवचन भी आयोजित थे । २ जुलाई को डॉ. जगदीश बंसल एवं ३ जुलाई के प्रातः सुरेखाबैन के यहाँ प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम हुए ।

३ जुलाई, १९८७ को ही ह्यूस्टन पहुँचे, जहाँ जैन सोसाइटी के अध्यक्ष लक्ष्मीचन्दजी माहेश्वरी के घर पर ठहरे एवं हिन्दू मन्दिर के हाल में शाम को प्रवचन हुआ ।

४ जुलाई, १९८७ को टेक्सास की राजधानी ओस्टन पहुँचे, जहाँ शतीशजी गोयल के घर ठहरे । शतीशजी ने अपने ही घर पर शताधिक जैनाजैन लोगों को प्रवचन एवं भोजन के लिए आमंत्रित किया था । उनके ही विशेष अनुरोध पर हुए अहिंसा पर मार्मिक प्रवचन ने सभी को अत्यधिक प्रभावित किया । प्रवचनोपरान्त सम्बन्धित विषय पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर भी हुए । ५ जुलाई, १९८७ को फिर एटलान्टा पहुँचे, जहाँ डॉ. कीर्तिशाह के यहाँ ठहरे । प्रवचन व चर्चा भी उन्हीं के घर पर रखे गये ।

७ जुलाई को रोचेस्टर पहुँचे जहाँ ७ जुलाई को इन्डियन कम्यूनिटी हाल में तथा ८ जुलाई को प्रबोध शाह के घर पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये ।

९ जुलाई को न्यूयार्क पहुँचे, जहाँ डॉ. धीरू शाह के घर ठहरे । ९जुलाई को उनके घर पर ही क्रमबद्धपर्याय पर एवं १० जुलाई को जैन मन्दिर में आत्मानुभव पर प्रवचन रखा गया । मन्दिर का हॉल खचाखच भरा था, कुछ लोग बाहर भी खड़े थे । कार्यक्रम बहुत ही अच्छा रहा ।

११ जुलाई, १९८७ को बोस्टन पहुँचे, जहाँ शैलेन्द्र पालविया के यहाँ ठहरे एवं जैन मन्दिर के हाल में प्रवचन रखा गया । १२ जुलाई, १९८७ को पिट्सवर्ग पहुँचे, जहाँ हिन्दू-जैनमन्दिर में अहिंसा पर मार्मिक प्रवचन हुआ, प्रश्नोत्तर भी हुए ।

यहाँ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ हिन्दू और जैन मन्दिर एक साथ बना हुआ है, जिसका नाम है – 'हिन्दू-जैन मन्दिर' । यह एक ऐसा विशाल मन्दिर है, जिसमें एक ही विशाल हाल में अनेक शिखरबंद स्वतन्त्र गर्भगृह हैं । इन अनेक गर्भगृहों में से एक सुरम्य गर्भगृह में स्वतन्त्र रूप से दो जैन मूर्तियाँ पद्मासन विराजमान हैं, जिनमें एक काले संगमरमर की २ फुट ६ इंच की फणवाली पार्श्वनाथ की श्वेताम्बर मूर्ति है और दूसरी सफेद संगमरमर की उतनी ही बड़ी भगवान महावीर की दिगम्बर मूर्ति है।

अन्य गर्भगृहों में रामपरिवार, शिवपरिवार, विष्णुपरिवार आदि की मूर्तियाँ है । मूल हाल के नीचे एक और हाल है, जो सभागृह के रूप में काम आता है । यहाँ की साज-संभार एवं पूजापाठ के लिए एक सवैतनिक ब्राह्मण पण्डित परिवार रहता है । वही जैनमूर्तियों की जैनविधि से पूजा-पाठ करता है । विश्व में यह अनूठा प्रयोग है ।

यहाँ से हमें शान्तिकुमार महनोत कार द्वारा अक्रोन ले गये । अक्रोन में उन्हीं के घर ठहरना हुआ और १३ जुलाई को प्रवचन व चर्चा का कर्यक्रम भी उनके ही घर पर रखा गया था । अक्रोन क्लीवलैण्ड के पास ही है। अतः यहाँ प्रवचन सुनने अक्रोन के अतिरिक्त क्लीवलैण्ड से भी अनेक लोग आये थे ।

१४ जुलाई, १९८७ को न्यूयार्क आ गये और वहाँ से १५ जुलाई को लन्दन (इग्लैंड) पहुँचे । यहाँ पर १५ जुलाई से १८ जुलाई तक एवं २० जुलाई को प्रतिदिन शाम को ८.३० से १०.३० तक प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम नवनाथ भवन में रखे गये थे । लगभग ३०० लोगों की उपस्थिति में भगवान आत्मा और उसकी प्राप्ति के उपायों पर लगातार ५ दिन तक हुए मार्मिक प्रवचनों एवं गहरी तत्वचर्चा ने सभी को आन्दोलित कर दिया।

इसके अतिरिक्त लक्ष्मीचंदभाई के घर पर प्रतिदिन प्रातः १०.३० से १२ बजे तक तत्त्वचर्चा होती थी । १८ जुलाई, शनिवार को ५ से ६ बजे तक प्रेमचन्दभाई के घर पर भी तत्त्वचर्चा रखी गई थी ।

भगवानजी भाई की प्रेरणा से लक्ष्मीचन्दभाई ने अपने नवीन घर में एक स्वाध्याय का कमरा बनाया है, जिसमें उन्होंने हमारे हाथ से पूज्य गुरुदेवश्री के चित्र का अनावरण भी कराया था । स्वाध्याय-कक्ष में अनेक शास्त्रों एवं पुस्तकों के साथ-साथ एक अप्रतिष्ठित जिन-प्रतिमा भी रखी हुई है । भगवानजी भाई सप्ताह में दो दिन प्रवचन और धार्मिक कक्षा का कार्यक्रम चलाते हैं, जिसमें उनके वृहद् परिवार के सभी सदस्यों के साथ-साथ और भी अनेक मुमुक्षुभाई लाभ लेते हैं ।

इस अवसर पर भगवानजीभाई ने साहित्य की कीमत कम करने के लिए पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को एक लाख रुपये देने की घोषणा की ।

१९ जुलाई, रविवार को लिस्टर के नवनिर्मित जैन मन्दिर में प्रवचन व चर्चा का कार्यक्रम रखा गया था । लिस्टर के कार्यक्रम का लाभ लेने के लिए लन्दन से भी एक बस गई थी ।

इसप्रकार अमेरिका, कनाडा और इंग्लैंड के छब्बीस नगरों में धर्मप्रभावना करते हुए ६३ दिवसीय यात्रा को समाप्त कर २१ जुलाई, १९८७ ई. को लन्दन से चलकर दिल्ली होते हुए २२ जुलाई, १९८७ ई. को जयपुर वापिस आ गये ।

उक्त सम्पूर्ण विवरण एवं इन यात्राओं में अभिव्यक्त विचारों के सिंहावलोकन के उपरान्त यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि अमेरिका, कनाडा और इंग्लैण्ड में वीतरागी तत्त्वज्ञान के कदम निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं, बस आवश्यकता इन प्रयासों को निरन्तरता प्रदान करने की है ।

इन यात्राओं ने वहाँ आध्यात्मिक रुचि को कितनी गरिमा और गहराई प्रदान की है – यह जानने के लिए शिकागो (अमेरिका) से प्राप्त एक बहिन का पत्र पर्याप्त है, जो इसप्रकार है :-

"परमपूज्य पंडितजी, १ दिसम्बर, १९८७ ई.

मैं शिकागो की रहनेवाली हूँ । जब आप शिकागो आये थे, तब मैंने आपके सभी प्रवचन बड़े ही ध्यान से सुने थे । तभी से महसूस हुआ था कि जितनी आवश्यकता आत्मा के डॉक्टर की है, उतनी शरीर के डॉक्टर की नहीं । आपकी लिखी पुस्तकें मैंने दुबारा बार-बार पढ़ी । उनको पढ़ने से मन को बड़ी शान्ति मिलती है और आत्मशक्ति बढ़ती है । मैंने आपकी 'सत्य की खोज' और 'धर्म के दशलक्षण' पढ़ी । आपकी इन पुस्तकों मे बहुत भारी ज्ञान भरा पड़ा है । ज्ञान तो जैनधर्म के सभी आगमों में भरा पड़ा है, पर आपकी सरल शैली से हम-जैसे अज्ञानियों की समझ में जल्दी

आया है; इसलिए मैं आपकी ऋणी हूँ; शिष्या हूँ; मेरा नमस्कार स्वीकार कीजिए ।

"धर्म के दशलक्षण में आया उत्तम क्षमा का लेख मेरे हृदय को छू गया। उसी की प्रेरणा से आपको पत्र लिखने बैठ गई । भगवान की कृपा से हमारे पास सबकुछ है, फिर भी यह बेचैनी, यह तड़फ, यह अशान्ति क्यों? आपकी कृपा से आत्मा की अनुभूति के परिचय की शुरूआत हुई है और इसमें हमें आपका आशीष चाहिए ।

आपकी नई पुस्तकें पढ़ने की तीव्र इच्छा है ।

लिखा जयश्री शाह का सादर प्रणाम ।"

हमारे इन कार्यक्रमों के आयोजक श्री रमणीकभाई वदर एवं उनकी धर्मपत्नी जयश्री बेन इनकी सफलता से इतने उत्साहित हैं कि हमारे वापस आते ही अगले वर्ष जाने की बात करने लगते हैं । उनका वश चले तो वे हमें देश में रहने ही न दें ।

यद्यपि यह बात सत्य है कि दो माह विदेश-प्रवास चले जाने से मेरे साहित्यिक कार्य की हानि होती है, कार्य का बोझ भी बढ़ जाता है; तथापि जब लोगों की श्रद्धा एवं भावनाओं का ख्याल आता है तो जाये बिना भी नहीं रहा जाता ।

वीतरागी तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण जगतीतल पर जयवंत वर्ते — इस मंगल कामना के साथ विराम लेता हूँ ।

५

जीवन-मरण और सुख-दुख

अतीन्द्रिय आनन्द और निराकुल शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय निज भगवान आत्मा की साधना और आराधना है । अनन्त आनन्द के कंद और ज्ञान के घनपिण्ड निज भगवान आत्मा को जानना, पहिचानना, उसी में जमना-रमना ही निज भगवान आत्मा की साधना और आराधना है; इसे ही शास्त्रीय भाषा में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं ।

यही कारण है कि जिन-अध्यात्म का एकमात्र मूल प्रतिपाद्य वह परमपारिणामिक भावरूप त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ही है, जिसके जानने का नाम सम्यग्ज्ञान, जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन और जिसका ध्यान करने अर्थात् जिसमें जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है । इसी परमपारिणामिक भावरूप भगवान आत्मा को 'ज्ञायकभाव' नाम से भी जाना जाता है ।

अमेरिका और यूरोप में धर्म-प्रचारार्थ की गई अपनी इस पाँचवीं यात्रा में जब हम शिकागो पहुँचे, तब पहले ही प्रवचन में इसी परमपारिणामिकभाव— ज्ञायकभाव सम्बन्धी प्रश्न सुनने को मिले तो चित्त प्रसन्न हो उठा और लगा कि अब यहाँ भी अध्यात्म की गहरी जिज्ञासा जागृत हो रही है और यहाँ के जिज्ञासु भी जिन-अध्यात्म की गहराई तक पहुँच रहे हैं ।

डिट्रोयट में भी परमपारिणामिकभाव के सन्दर्भ में पाँच भावों सम्बन्धी जिज्ञासा से भी यही प्रतीत हुआ । वाशिंगटन शिविर में छहढाला चलाने की माँग तो छह माह पूर्व ही आ गई थी, परिणामस्वरूप हम ५० छहढाला साथ भी ले गये थे ।

आपको यह जानकर भी हर्ष होगा कि शिकागो में समयसार की ६वीं, ३८वीं, ७३वीं और १८६वीं गाथा पर प्रवचन करने की माँग की गई थी। लोगों ने समयसार का सामूहिक स्वाध्याय किया था । स्वाध्याय के बीच जो प्रश्न उपस्थित हुए, उन्हें कम्प्यूटर में नोट कर दिये थे । हमारे पहुँचने पर कम्प्यूटर से प्रश्न निकालकर उनका समाधान सभा में ही कराया गया ।

यह सब देखकर हमारा हृदय गद्गद् हो गया और अब हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि विदेशों में बसे जैन धर्मानुयायियों में जिन-अध्यात्म के प्रति गहरी जिज्ञासा जाग गई है । अतः अब हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि हमारा यह पंचवर्षीय प्रवास निरर्थक नहीं गया है, श्रम सफल ही रहा है ।

लोगों की जिज्ञासा जानने के लिए लगभग सभी जगह हमने एक बात अवश्य कही कि हमारे आने का यह अन्तिम वर्ष है, अब हम आगे नहीं आ सकेंगे; क्योंकि हमने पश्चिमी जगत में जिन-अध्यात्म की नींव डालने के लिए पाँच वर्ष तक अपनी ओर से स्वयं आने का संकल्प किया था; रमणीकभाई वदर की भी यही भावना थी, उनका भी यही संकल्प था, जो अब पूरा हो गया है ।

इस पर लोगों ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की । लगभग सभी जगह यही कहा गया कि ऐसा नहीं हो सकता, आपको आना ही होगा । जब आपने हमें इस लाइन पर लगाया है तो संभालना भी होगा । अब जब अध्यात्म की बेल कुछ लहलहाने लगी है, तब उसे आप ऐसे ही निराधार कैसे छोड़ सकते हैं ? हम अपनी शंकाओं के समाधान के लिए वर्षभर प्रतीक्षा करते हैं, आपके प्रवचनों के टेपों को वर्षभर सुनते हैं, एक प्रवचन को पच्चीस-पच्चीस बार सुनते हैं, उस पर गंभीरता से विचार करते हैं, परस्पर चर्चा करते हैं।

हो सकता है भारत में आपको अधिक लोग सुनते हों, यहाँ उतनी संख्या आपको न मिलती हो, पर आप संख्या का विचार मत कीजिए । हमारी भावना को देखिए । आपको आना तो होगा ही, इसके लिए हमें जो भी करना होगा करेंगे, पर आपको आना तो अवश्य ही होगा । हम रमणीकभाई वदर से भी अनुरोध करेंगे ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी जगत के जैन भाइयों में जिन-अध्यात्म के बीज तो पड़ गये हैं, अब उन्हें सींचने की आवश्यकता है।

इस वर्ष आचार्य कुन्दकुन्द का दो हजारवाँ वर्ष होने से हमारा चित्त भी उन्हीं के ग्रंथों पर प्रवचन करने का था, सबकी जिज्ञासा देखकर हमारे विचार को बल मिला और हमने सभी जगह 'कुन्दकुन्द शतक' के आधार पर ही प्रवचन किए । प्रत्येक कार्यक्रम 'कुन्दकुन्द शतक' के आद्योपान्त सामूहिक पाठ से आरंभ होता था, जिसे सभी लोग मनोयोग से पढ़ते थे । 'कुन्दकुन्द शतक' की दो सौ प्रतियाँ हम साथ ले गये थे, जो सभी के हाथ में दे जाती थीं। पुस्तकें कम पड़ने पर उनके फोटोस्टेट करा लिए गये थे ।

यह तो आपको विदित ही है कि 'कुन्दकुन्द शतक' की विभिन्न रूपों में एक लाख प्रतियाँ छप चुकी हैं और 'कुन्दकुन्द शतक पद्यानुवाद' के दश हजार संगीतबद्ध केसेट भी जन-जन तक पहुँच चुके हैं । इसके अंग्रेजी, मराठी और कन्नड़ में अनुवाद हो चुके हैं, जो छपने के लिए प्रेस में दे दिये गये हैं । अन्य भाषाओं में भी इसीप्रकार के प्रयत्न चालू हैं ।

इसप्रकार कुन्दकुन्द वर्ष देश में आरंभ होने के पहले ही विदेश में आरंभ हो गया ।

इस वर्ष की यात्रा न्यूयार्क से ही आरंभ हुई । ५ जून, १९८८ ई. को प्रातः दिल्ली से चलकर न्यूयार्क पहुँचे, जहाँ डॉ. धीरूभाई शाह एवं रेखाबैन शाह के घर ठहरे । १0 जून को उनके घर पर कार्यक्रम आरंभ हुआ । 'कुन्दकुन्द शतक' की गाथा ४६ से ५२ तक की गाथाओं के आधार

पर प्रवचन हुआ । इसमें पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के अध्यक्ष सेठ पूरनचंदजी गोदीका एवं जयपुर के प्रसिद्ध जवेरी श्री प्रसन्नकुमारजी सेठी भी उपस्थित थे । दूसरे दिन ११ जून, १९८८, शनिवार को जैनमंदिर में प्रवचन रखा गया । 'कुन्दकुन्द शतक' के पाठ के उपरान्त 'सम्यग्दर्शन' विषय पर मार्मिक प्रवचन हुआ । इस कार्यक्रम में दिगम्बर जैन महासमिति के कार्याध्यक्ष श्री रतनलालजी गंगवाल भी सपरिवार उपस्थित थे ।

१२ जून, १९८८ को बोस्टन पहुँचे, रविवार होने से दिन के ३ बजे मन्दिर में कार्यक्रम रखा गया । 'कुन्दकुन्द शतक' के पाठ के बाद 'कुन्दकुन्द शतक' की उन्हीं गाथाओं पर प्रवचन हुआ । प्रवचनोपरान्त 'क्रमबद्धपर्याय' पर लगभग डेढ़ घण्टे तक गहरी तत्त्वचर्चा चली । रात्रि में राजेन्द्र जैन व नीलू जैन के घर पर उनके पुत्र की वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में अन्य कार्यक्रम के साथ हमारी तत्त्वचर्चा का कार्यक्रम भी रखा गया था ।

१३ जून, १९८८ को क्लीवलेन्ड पहुँचे, जहाँ जैन फैडरेशन ऑफ नार्थ अमेरिका के अध्यक्ष डॉ. तनसुख सालगिया के घर पर ठहरे । १४ जून, १९८८ को उन्हीं के घर पर 'कुन्दकुन्द शतक' के पाठ के उपरान्त 'कुन्दकुन्द शतक' पर ही प्रवचन व तत्त्वचर्चा हुई । अगले दिन १५ जून, १९८८ को अक्रोन में शान्ति मिहनोत के घर चर्चा व प्रवचन के कार्यक्रम रखे गये।

१६ जून, १९८८ को रोचेस्टर पहुँचे, जहाँ महेन्द्र दोशी एवं उर्मिला दोशी के घर पर ठहरे । इन्डियन कम्यूनिटी के हॉल में 'कुन्दकुन्द शतक' की गाथाओं के पाठ के उपरान्त उन्हीं पर प्रवचन व चर्चा हुई, दूसरे दिन कीर्ति शाह के घर पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये ।

महेन्द्र दोशी अजमेर के हैं । उन्होंने 'क्रमबद्धपर्याय' में विशेष रस लिया। वे घर पर भी मुझसे घण्टों 'क्रमबद्धपर्याय' की चर्चा करते रहे । इन दिनों उनका 'क्रमबद्धपर्याय' का गहराई से अध्ययन भी चल रहा है । किशोरभाई

शेठ एवं आशाबैन शेठ हमें यहाँ से कार द्वारा टोरेन्टो ले गये, रास्ते में भक्ति के सन्दर्भ में चर्चा करते रहे, उनकी अनेक शंकाओं-आशंकाओं का हमने यथासंभव समाधान किया ।

टोरन्टो में दिनेश जैन के घर ठहरे और १७ जून को मन्दिर में 'कुन्दकुन्द शतक' के पाठोपरान्त उसी पर मार्मिक प्रवचन हुआ । उसके बाद विन्डसर होते हुए डिट्रोयट पहुँचे, जहाँ दो दिन अनन्त कोरड़िया एवं जयाबैन कोरड़िया के घर तथा एक दिन अशोक चौकसी एवं डॉ. लीना बैन चौकसी के घर ठहरे। कार्यक्रम भी उन्हीं के घर पर रखे गये ।

प्रथम दिन औपशमिकादि पाँच भावों पर मार्मिक चर्चा हुई, परमपारिणामिक भाव के रूप में दृष्टि के विषय का खुलासा बहुत ही अच्छा हुआ । दूसरे दिन 'कुन्दकुन्द शतक' के पाठ के उपरान्त उसी की ४६ से ५२ तक की गाथाओं पर तथा तीसरे दिन जिनेन्द्र वंदना के पाठ के उपरान्त 'आत्मानुभव' विषय पर मार्मिक प्रवचन हुआ । चर्चा भी हुई । सभी के वीडियो केसेट तैयार किये गये ।

डिट्रोयट से शिकागो पहुँचे, जहाँ निरंजनभाई के घर पर ठहरे । २३ जून, १९८८ को उन्हीं के घर पर ज्योतेन्द्रभाई की मांग पर समयसार गाथा ६ पर प्रवचन व चर्चा हुई । २४ जून, १९८८ को डॉ. विक्रमभाई एवं जयश्रीबैन के घर ठहरना हुआ, समयसार गाथा ३८ पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम उन्हीं के घर पर हुए ।

२५ जून, १९८८ के प्रातः १० बजे हंसमुखभाई एवं ज्योत्सना बैन (जेसी) के घर पर 'क्रमबद्धपर्याय की जीवन में उपयोगिता' विषय पर प्रवचन व चर्चा हुई । इसी दिन दोपहर को मानव सेवा आश्रम के हॉल में 'कुन्दकुन्द शतक' के पाठ के उपरान्त उसी की गाथा ४६-५२ पर प्रवचन व चर्चा हुई । २६ जून, १९८८, रविवार के प्रातः निरंजन शाह के घर पर समयसार गाथा ७३ पर और इसी दिन दोपहर को मानव सेवा आश्रम के

हॉल में 'आत्मा की पहचान' विषय पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम हुए ।

इसप्रकार शिकागो में कुल पाँच दिन ठहरे, जिसमें सात घण्टे के सात प्रवचन एवं लगभग दस घण्टे की तत्वचर्चा के कार्यक्रम हुए । शिकागो में आध्यात्मिक रुचि अच्छी है । यहाँ पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के संस्थापक अध्यक्ष श्रीमान् सेठ पूरणचंदजी गोदीका भी पधारे थे, जो प्रत्येक प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम में उपस्थित रहते थे ।

२८ जून, १९८८ को फिनिक्स पहुँचे, जहाँ क्लब के हॉल में २८, २९ एवं ३० जून को 'कुन्दकुन्द शतक' की गाथाओं एवं 'क्रमबद्धपर्याय' पर प्रवचन हुए, मार्मिक तत्वचर्चा भी हुई । इसके अतिरिक्त 'क्रमबद्धपर्याय' पर दो प्रवचन और दो घण्टे की तत्वचर्चा किशोरभाई के घर पर भी हुई । यहाँ कुल पाँच घण्टे के प्रवचन एवं पाँच घण्टे की तत्वचर्चा हुई । सभी के वीडियो केसेट तैयार किये गये ।

यहाँ किशोरभाई पारेख के प्रयासों से अच्छा आध्यात्मिक वातावरण है। वे व उनके साथी धार्मिक कक्षाएँ चलाते हैं, जिसमें १८ छात्र-छात्राएँ बालबोध पाठमालाओं के आधार पर अध्ययन करते हैं ।

यहाँ से किशोरभाई के साथ कार द्वारा हम १ जुलाई, १९८८ को लासएंजिल्स पहुँचे, जहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आयोजित थी । लगभग एक हजार लोगों की उपस्थिति में शिकागो, टोरन्टो, वैनकुवर, सान्फ्रान्सिस्को जैसे सुदूरवर्ती क्षेत्रों से भी अनेक लोग आये थे । वातावरण बहुत अच्छा था । बहुत ही उत्साह से सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हो रहे थे ।

मन्दिर भी बहुत विशाल बना है, जिसमें प्रवचन मण्डप के अतिरिक्त लायब्रेरी कक्ष, पाठशाला कक्ष एवं अतिथियों के लिए आवास की भी सुविधा है । सम्पूर्ण भवन आज की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया गया है ।

प्रतिष्ठा कार्यक्रमों के अतिरिक्त सहस्राधिक लोगों की उपस्थिति में २ जुलाई, १९८८ को चित्रभानुजी एवं योगेश मुनि के साथ हमारा और डॉ. जैनी का भी व्याख्यान हुआ । इसी हॉल में ३ जुलाई को हमारा एक व्याख्यान जैन शोसल ग्रुप के तत्त्वावधान में भी हुआ, जिसे चित्रभानुजी ने बहुत सराहा ।

इसके अतिरिक्त हमारे प्रवचन २ जुलाई, १९८८ की शाम को रमेशभाई के घर, ३ जुलाई, १९८८ की शाम को हर्षदभाई शेठ के घर एवं ४ जुलाई, १९८८ की शाम को गिरीशभाई के घर हुए ।

श्री योगेश मुनि एवं डॉ. नरेन्द्र बक्सी के अनुरोध पर एक व्याख्यान आचार्य श्री सुशील मुनि के आश्रम में भी हुआ, जिसमें अधिकांश हिन्दी-भाषी भाई-बहिन उपस्थित थे ।

५ जुलाई, १९८८ को वाशिंगटन पहुँचे, जहाँ प्रतिवर्ष की भाँति सेंटमेरी कॉलेज के छात्रावास में शिविर आयोजित था । इस वर्ष का शिविर ७ जुलाई, ८८ से १० जुलाई, १९८८ तक — इसप्रकार चार दिन का था।

इस शिविर में आरंभ के दो प्रवचन 'कुन्दकुन्द शतक' पर हुए । इसके बाद छहढाला की कक्षा चली । प्रतिदिन चार प्रवचन व रात में एक घंटे तत्वचर्चा होती थी । छहढाला की पहली व दूसरी ढाल पर एक-एक प्रवचन; तीसरी, चौथी व छठवीं ढाल पर दो-दो प्रवचन हुए, इसप्रकार छहढाला पर कुल आठ प्रवचन हुए; पाँचवीं ढाल छोड़ दी गई, क्योंकि उसमें समागत बारह भावनाओं पर गत वर्ष विस्तार से चर्चा व प्रवचन हो चुके थे ।

रात्रिकालीन चर्चा में सभीप्रकार के प्रश्नोत्तर चलते थे । रात्रिकालीन चर्चा को छोड़कर सभी प्रवचनों के वीडियो केसेट तैयार किए गये । ऑडियो केसेट तो प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना करता ही था ।

इस वर्ष वाशिंगटन के शिविर में एकदम आध्यात्मिक वातावरण रहा । यह तो आपको विदित ही है कि यहाँ धार्मिक कक्षायें नियमित चलती हैं, जिनकी चर्चा विगत वर्षों में की जा चुकी है ।

११ जुलाई, १९८८ को अटलान्टा पहुँचे, जहाँ संतोष कोठारी एवं सरला कोठारी के यहाँ ठहरे, ११ एवं १२ जुलाई को उन्हीं के घर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम हुए । १३ जुलाई को अश्विनभाई गाँधी के घर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये ।

अटलान्टा से १४ जुलाई, १९८८ को रालेइघ पहुँचे, जहाँ प्रवीणभाई शाह के घर ठहरे । यहाँ १५ जुलाई, १९८८ को हॉल में प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये ।

रालेइघ से १६ जुलाई, १९८८, शनिवार को न्यूयार्क आये । वहाँ जैन मन्दिर में प्रातः १0 बजे से १२ बजे तक प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये । उसी दिन शाम को लन्दन के लिए रवाना हो गये, क्योंकि इसके बाद १0 दिन का लन्दन व लिस्टर का कार्यक्रम था ।

इसप्रकार जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्म की गहरी छाप छोड़ते हुए अमरीका की यह यात्रा समाप्त हुई ।

आचार्य कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दी वर्ष होने से 'कुन्दकुन्द शतक' पाठ के साथ 'कुन्दकुन्द शतक' की जिन गाथाओं पर एक या दो प्रवचन लगभग सर्वत्र ही हुए, वे गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं :—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥४६॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ॥४७॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥४८॥

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥४९॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ॥५०॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥५१॥

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥५२॥

इन गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है :—

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥४६॥

निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं ॥४७॥

निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ॥४८॥

मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥४९॥

सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं ॥५०॥

सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं ॥५१॥

मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है, क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ॥५२॥

ये गाथाएँ मूलतः समयसार के बंधाधिकार की गाथाएँ हैं, जिनमें एक महान सत्य की ओर जगत का ध्यान आकर्षित किया गया है । इन गाथाओं में तीर्थंकर परमात्मा की साक्षी पूर्वक यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि जो व्यक्ति यह मानता है कि मैं दूसरों को मारता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं; मैं दूसरों की रक्षा करता हूँ या दूसरे मेरी रक्षा करते हैं; मैं दूसरों को सुखी-दुःखी करता हूँ या दूसरे मुझे सुखी-दुःखी करते हैं; वह व्यक्ति मूढ़ है, अज्ञानी है; तथा ज्ञानियों की मान्यता इससे विपरीत होती है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है ।

इस महान सिद्धांत को जगत के समक्ष रखते हुए आचार्यदेव ने करणानुयोग को आधार बनाकर जो वजनदार युक्तियां प्रस्तुत की हैं, वे अपने आप में अद्‌भुत हैं, अकाट्य हैं ।

अपनी बात को सिद्ध करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि जब सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, चार ज्ञान के धारी गणधरदेव की उपस्थिति में तीर्थंकर परमात्मा अरहंतदेव ने अपनी दिव्यध्वनि में डंके की चोट पर यह बात कही है कि जगत का प्रत्येक प्राणी अपने आयुकर्म के क्षय से मरण को प्राप्त होता है और आयुकर्म के उदय से ही जीवित रहता है तो फिर कोई किसी के जीवन-मरण का उत्तरदायी कैसे हो सकता है?

जब तुम किसी के आयुकर्म का हरण नहीं कर सकते हो तो फिर उसे मार भी कैसे सकते हो ? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हारे आयुकर्म का हरण नहीं कर सकता है तो वह तुम्हें भी कैसे मार सकता है ?

यही बात जीवन के संदर्भ में भी कही जा सकती है । जब प्रत्येक प्राणी अपने आयुकर्म के उदय से जीवित रहता है और जब तुम किसी को

आयुकर्म दे नहीं सकते हो तो फिर तुम उसकी रक्षा भी किसप्रकार कर सकते हो ? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हें आयुकर्म नहीं दे सकता है तो फिर वह तुम्हारी रक्षा भी किसप्रकार कर सकता है ?

इसीप्रकार सुख-दुःख के सन्दर्भ में भी घटित कर लेना चाहिए । प्रत्येक जीव अपने शुभकर्म के उदयानुसार लौकिक सुख प्राप्त करता है, अनुकूल संयोग प्राप्त करता है और अपने अशुभकर्म के अनुसार दुःख प्राप्त करता है, प्रतिकूल संयोग प्राप्त करता है । यह परमसत्य जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आया है ।

जब तुम किसी को भी शुभाशुभकर्म नहीं दे सकते हो तो उसे सुखी-दुःखी भी कैसे कर सकते हो? इसीप्रकार जब कोई तुम्हें शुभाशुभकर्म नहीं दे सकता है तो वह तुम्हें भी सुखी-दुःखी कैसे कर सकता है ?

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने सुख-दुःख एवं जीवन-मरण का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता स्वयं ही है, अपने भले-बुरे का उत्तरदायी भी पूर्णतः स्वयं ही है ।

इस परमसत्य से अपरिचित होने के कारण ही अज्ञानीजन अपने सुख-दुःख एवं जीवन-मरण का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता अन्य जीवों को मानकर अकारण ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं । अज्ञानी के यह राग-द्वेष-मोह परिणाम ही उसके अनन्त दुःखों के मूल कारण हैं ।

पर में ममत्व एवं कर्तृत्व बुद्धि से उत्पन्न इन मोह-राग-द्वेष परिणामों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाले इस महासिद्धांत को जगत के सामने रखकर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने हमसब का महान उपकार किया है; क्योंकि जगतजनों के जीवन का सर्वाधिक समय इसी चिंता और आकुलता-व्याकुलता में जाता है कि कोई हमें मार न डाले, दुःखी न कर दे; मैं पूर्ण सुरक्षित रहूँ, जीवित रहूँ, सुखी रहूँ । अपनी सुरक्षा के उपायों में ही हमारी सर्वाधिक शक्ति लग रही है, बुद्धि लग रही है, श्रम लग रहा है । अधिक क्या कहें—

हमारा सम्पूर्ण जीवन ही इसी के लिए समर्पित है, इसी चिन्ता में बीत रहा है ।

पड़ौसी पड़ौसी से आतंकित है, आशंकित हैं; एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचने में संलग्न है, सुरक्षा के नाम पर विनाश की तैयारी में मग्न है; निराकुलता और शान्ति किसी के भी जीवन में दिखाई नहीं देती ।

इस मूढ़ जगत ने अपनी सुरक्षा के नाम पर संसार के विनाश की इतनी सामग्री तैयार करली है कि यदि उसका शतांश भी उपयोग में आ जावे तो सम्पूर्ण मानव जाति ही समाप्त हो सकती है । आश्चर्य और मजे की बात तो यह है कि हमने इस मारक क्षमता का विकास सुरक्षा के नाम पर किया है, यह सब अमरता के लिए की गई मृत्यु की ही व्यवस्था है ।

घटिया माल को बढ़िया पेकिंग में प्रस्तुत करने का अभ्यस्त यह जगत हिंसक कार्यों के लिए भी अहिंसक शब्दावली प्रयोग करने में इतना माहिर हो गया है कि मछलियाँ मारने का काम भी मत्स्य पालन उद्योग के नाम से करता है, कीटाणुनाशक (एन्टी वाइटिक्स) दवाओं को भी जीवन रक्षक दवाइयाँ कहता है ।

इसप्रकार यह जगत हथियारों का अंबार लगाकर अपने को सुरक्षित करना चाहता है; पर भाई हथियार तो मृत्यु के उपकरण हैं, जीवन के नहीं; इस सामान्य तथ्य की ओर आपका ध्यान क्यों नहीं जाता ? हथियारों के प्रयोग से आज तक किसी का जीवन सुरक्षित तो हुआ नहीं, मौत का ताण्डव अवश्य हुआ है ।

इस परमसत्य के स्पष्टीकरण के लिए मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि भारत में लगभग एक करोड़ जैन रहते हैं, यदि उनके घरों की तलाशी ली जावे तो एक प्रतिशत घरों में भी कोई भी शस्त्र नहीं मिलेगा । जैन मंदिरों की तो यह हालत है कि आग्नेय

शस्त्र तो बहुत दूर, किसी भी मंदिर में एक लाठी भी प्राप्त नहीं होगी। शस्त्रों से विहीन इस अहिंसक समाज का एक भी व्यक्ति शस्त्रों से बेमौत नहीं मरता, सभी अपनी सहज मौत से ही मरते हैं ।

दूसरी ओर देखें तो पंजाब के घर-घर में हथियार हैं और गुरुद्वारे तो हथियारों से भरे पड़े हैं । जब भी किसी गुरुद्वारे का सैनिकों द्वारा ऑपरेशन होता है तो वे हथियारों के पहाड़ों से पटे मिलते हैं, फिर भी वे लोग सुरक्षित नहीं हैं । हम प्रतिदिन समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि आज इतने मरे और आज इतने मरे । नहीं मरने का तो कोई सवाल ही नहीं है, बस अब तो इतना ही देखना होता है कि आज कितने मरे ? ऐसा कोई दिन नहीं जाता कि जिस दिन पंजाब में दस-बीस हत्यायें न होती हों । यह सब क्या है?

इससे तो यही सिद्ध होता है कि शस्त्र सुरक्षा के साधन नहीं हैं, अपितु मौत के ही मौन आमंत्रण हैं; क्योंकि जिनके पास हथियार नहीं होते, वे हथियारों से नहीं मरते; पर जिनके पास हथियार होते हैं, वे प्रायः हथियारो से ही मारे जाते हैं ।

मान लीजिए मेरे पास दस हजार रुपये हैं और वे रुपये मुझ निहत्थे से कोई छीनना चाहता है तो उसे हथियार लाने की कोई आवश्यकता नहीं है, एक डंडा ही पर्याप्त है । डंडा भी मारने की आवश्यकता नहीं है, दिखाना ही पर्याप्त है; क्योंकि डंडा दिखाने मात्र से ही उसे रुपये प्राप्त हो जायेंगे।

इसप्रकार मेरा शस्त्रों से मरना तो बहुत दूर, डंडे से पिटना भी संभव नहीं है; किन्तु यदि किसी हथियार वाले को लूटना हो तो लुटेरों को हथियारों से सुसज्जित होकर ही आना होगा । लुटेरे उसके रुपये तो लूटेंगे ही, जान से भी मार सकते हैं; क्योंकि उससे उन्हें सदा खतरा बना रहेगा।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि हथियार सुरक्षा के साधन नहीं, मौत के ही सौदागर हैं । फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि हमारे हथियारों के भय से हम पर कोई आक्रमण करने की हिम्मत ही नहीं करेगा, अतः हम सुरक्षित रहेंगे । ऐसा सोचने वालों से मेरा कहना यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि तुम्हारे शस्त्रों के भय से तुम पर कोई आक्रमण नहीं करेगा; पर जब तुम स्वयं बीमार होकर मरोगे, तब क्या होगा?

इस आशंका से आकुल-व्याकुल इस जगत ने अनेक प्रकार की औषधियों का निर्माण किया है । 'कोई मार न दे' — इस आशंका से एक प्रकार की गोलियाँ (अणुबम) बनाई हैं तो 'बीमारियों से स्वयं ही न मर जावें'— इस भय से दूसरे प्रकार की गोलियों (दवाइयाँ) बनाई हैं । जीवन रक्षक (एन्टीबाइटिक्स) दवाइयों का उत्पादन इसकी इसी आकांक्षा का परिणाम है।

इसप्रकार यह स्वयं को गोलियों के बल पर मरण भय से मुक्त करना चाहता है, पर आजतक तो इसमें किसी को सफलता प्राप्त हुई नहीं है; क्योंकि अभी तक तो कोई सदेह अमर हो नहीं पाया है । लाखों लोगों को दम तोड़ते हम प्रतिदिन देखते ही हैं ।

इसीप्रकार सुखी रहने और दुःख दूर करने के लिए भी इसने दर्दनाशक दवाओं का निर्माण किया है । खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना, सभी प्रकार के भोगों को भोगना एवं भोगसामग्री इकट्ठी करना भी इसकी इसी आकांक्षा के परिणाम है ।

पर इतना सब-कुछ कर लेने के बाद भी न तो यह अमर ही हो सका है और न ही सुखी ही; क्योंकि अमर और सुखी होने का जो रास्ता इस जगत ने चुना है, वह सम्यक् नहीं है । न तो शस्त्र सुरक्षा के साधन ही हैं और न दवाइयाँ दुःख दूर करने में समर्थ हैं; क्योंकि न तो वे लोग सुरक्षित ही दिखाई देते हैं, जो शस्त्रों की सुरक्षा में रहते हैं और न वे सुखी ही दिखाई देते हैं, जो प्रतिदिन दस-पांच गोलियां तो खाते ही हैं ।

शस्त्रों से सुरक्षा की बात तो पंजाब के उदाहरण से स्पष्ट हो ही चुकी है, रही बात जीवन रक्षक दवाइयों से सुरक्षा एवं दर्दनाशक दवाइयों से सुखी होने की बात, सो भाई! भारतवर्ष में ऐसे अनेक नग्न दिगम्बर संत मिलेंगे, जिन्होंने जीवन में एक भी गोली नहीं खाई होगी । दिन में एक बार शुद्ध सात्विक आहार लेनेवाले, दूसरी बार जल का बिंदु भी ग्रहण नहीं करने वाले वीतरागी संत सौ-सौ वर्ष की आयु पर्यन्त पूर्ण स्वस्थ दिखाई देते हैं और अपनी पूर्ण आयु को चलते-फिरते आत्मसाधना में रत रहते आनन्द से भोगते हैं; जबकि प्रतिदिन अनेक गोलियां खाने वाले दिन-रात भक्ष्य-अभक्ष्य पौष्टिक पदार्थ भक्षण करनेवाले जगतजन भरी जवानी में ही जवाब देने लगते हैं ।

इसप्रकार यह अत्यंत स्पष्ट है कि न तो हथियार सुरक्षा के साधन हैं, और न ही भोगोपभोग सामग्री तथा औषधियाँ सुखी होने का वास्तविक उपाय हैं; आयुकर्म का उदय जीवन का आधार है और शुभकर्मों का उदय लौकिक सुखों का साधन है ।

ये कर्म भी जीव स्वयंकृत शुभाशुभ भावों के अनुसार स्वयं ही बांधता है । इसप्रकार यह प्राणी अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, अन्य किसी का इसमें रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है।

इसी बात को यहाँ बड़ी दृढ़ता से प्रस्तुत किया गया है कि जो यह मानते हैं कि मैं दूसरों को मारता हूँ या उनकी रक्षा करता हूँ अथवा दूसरे मुझे मारते हैं या वे मेरी रक्षा करते हैं; वे मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं; और ज्ञानी इससे विपरीत है, क्योंकि ज्ञानी ऐसा नहीं मानता वह तो यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख-दुःख और जीवन-मरण का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, कोई किसी के जीवन-मरण और सुख-दुःख का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है ।

दूसरों को मारने, बचाने या दुःखी-सुखी करने के विकल्प में उलझे अथवा कोई मुझे मार न दे, दुःखी न कर दे, — इस कल्पना से भयाक्रांत अथवा

कोई मुझे बचाले या सुखी कर दे — इस भावना से दीन-हीन इस जगत को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! तू एक बार गंभीरता से विचार तो कर कि क्या तेरी आयु शेष रहते कोई तुझे मार सकता है, आयु समाप्त हो जाने पर भी क्या कोई तुझे बचा सकता है, अशुभ कर्मों का उदय रहते क्या तुझे कोई सुखी कर सकता है तथा शुभकर्मों का उदय विद्यमान होने पर भी क्या तुझे कोई दुःखी कर सकता है? यदि नहीं तो फिर क्यों व्यर्थ ही भयाक्रान्त होता है, दीन-हीन होकर किसी के सामने गिड़गिड़ाता भी क्यों है ?

अनिर्णय की स्थिति में पड़े हुए संशयग्रस्त प्राणी के भय और दीनता का एक ही कारण है और यह है अन्य को अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का कारण मानना । इसीप्रकार इसके अभिमान का कारण भी यह मानना है कि मैं दूसरों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ; सुखी-दुःखी कर सकता हूँ।

'मैं दूसरों को मार सकता हूँ' — इस मान्यता से उत्साहित होकर यह दूसरों को धमकाता है, अपने अधीन करना चाहता है । इसीप्रकार 'मैं दूसरों को बचा सकता हूँ' — इस मान्यता के आधार पर भी दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है । सुखी-दुखी कर सकने की मान्यता के आधार से भी इसीप्रकार की प्रवृत्तियां विकसित होती हैं ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पर में हस्तक्षेप करने की कुत्सित भावना ही इसके मन को अशान्त करती है, आकुल-व्याकुल करती है, दीन-हीन बनाती है । यदि हम चाहते हैं कि हमारा चित अशांत न हो, आकुल-व्याकुल न हो, भयाक्रांत न हो, दीन-हीन न हो तो हमें आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त पंक्तियों पर गहराई से विचार करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, मनन करना चाहिए ।

किसी अन्य के कुछ करने-धरने से तो हमारा हित-अहित होता ही नहीं है, किसी के आशीर्वाद और शाप से भी कुछ नहीं होता ।

लोक में कहावत भी है कि 'कौओं के कोसने से ढोर (पशु) नहीं मरते'। यदि कौओं के कोसने से पशु मरने लग जावें तो जगत में एक भी पशु का बचना संभव नहीं है; क्योंकि लोक में कोसने वाले कौओं की कमी नहीं है।

आशीर्वाद के सन्दर्भ में भी यही बात है । प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बालक को अत्यंत पवित्र हृदय से भरपूर आशीर्वाद देती है, पर एक ही माँ का एक बालक विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है और दूसरा अनुत्तीर्ण हो जाता है । एक जिलाधीश बन जाता है और दूसरे को चपरासी बनना पड़ता है । यदि माँ के आशीर्वाद से कुछ होता हो तो दोनों बालकों को एक-सा फल प्राप्त होना चाहिए, पर ऐसा देखने में नहीं आता । सच्ची बात तो यह है कि यदि आशीर्वाद से कुछ होने की बात होती तो किसी का भी कुछ भी अनिष्ट होने की संभावना ही समाप्त हो जाती; क्योंकि प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बेटे को भरपूर आशीर्वाद देती ही है ।

इससे यही प्रतिफलित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुख व जीवन-मरण उसके स्वयं के कर्मानुसार ही होते हैं ।

'जैसा करोगे, वैसा भरोगे' की सूक्ति को सार्थक करने वाला आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन लोगों को अपने आचरण सुधारने की भी पावन प्रेरणा देता है । श्रद्धा ही आचरण को दिशा प्रदान करती है । जबतक हमारी श्रद्धा ही सम्यक् न होगी, तबतक आचरण भी सम्यक् होना संभव नहीं है ।

जबतक छात्रों की श्रद्धा यह रहेगी कि पढ़ने से क्या होता है, विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तो प्राध्यापकों की कृपा से ही प्राप्त होता है; तबतक छात्रों का मन पढ़ने में कैसे लगेगा? वे तो प्राध्यापकों को प्रसन्न करने के लिए उनके घरों के ही चक्कर काटेंगे ।

जबतक कोई लिपिक यह मानता रहेगा कि काम करने से क्या होता है, पदोन्नति तो अधिकारियों के प्रसन्न होने पर ही होगी; तबतक उसका मन काम करने में कैसे लगेगा, वह तो अधिकारियों की सेवा में ही संलग्न रहेगा ।

जबतक व्यापारी यह समझते रहेंगे कि ईमानदारी से आजतक कोई करोड़पति नहीं बना, करोड़पति बनने के लिए तो ऊँचा-नीचा करना ही पड़ता है; तबतक कोई व्यापारी ईमानदारी के चक्कर में क्यों पड़ना चाहेगा, वह तो ऊँचा-नीचा करने में ही व्यस्त रहेगा ।

जबतक मुख्यमंत्री यह समझते रहेंगे कि जनता की सेवा करने से क्या होता है, कुर्सी तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक प्रधानमंत्री प्रसन्न है; तबतक कोई मुख्यमंत्री जनता की समस्यायें सुलझाने में क्यों माथा मारेगा, वह तो प्रधानमंत्री को प्रसन्न करने के लिए दिल्ली में ही डटा रहेगा ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मिथ्या श्रद्धा के कारण, गलत विश्वास के कारण, उल्टी मान्यता के कारण आज देश की क्या दुर्गति हो रही है । यदि यह श्रद्धा पलट जावे तो चन्द दिनों में ही देश का नक्शा पलट सकता है ।

छात्र यह सोचने लगें कि प्राध्यापकों के घर के चक्कर काटने से क्या होता है, विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तो सर्वाधिक अध्ययन करने वाले छात्र को ही प्राप्त होगा । लिपिक यह सोचने लगें कि अधिकारियों के चक्कर काटने से क्या होता है, पदोन्नति तो अच्छा काम करने से ही होगी। व्यापारी यह सोचन लगें कि बेईमानी से स्थाई लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता है; क्योंकि काठ की हाँडी बार-बार नहीं चढ़ती, किसी-किसी को और कभी-कभी ही धोखा दिया जा सकता है, सभी को सदाकाल धोखे में रखना संभव नहीं है । यदि स्थाई लाभ प्राप्त करना है तो ईमानदारी से ही काम करना होगा। मुख्यमंत्री भी यह समझने लगे कि प्रधानमंत्री की

चापलूसी करने से क्या होता है, पद तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक जनता जनार्दन चाहेगी ।

बस, इतना विवेक जागृत होते ही, श्रद्धा पलटते ही छात्र प्राध्यापकों के घर के चक्कर नहीं काटेंगे, पढ़ेंगे; लिपिक अधिकारियों की गुलामी नहीं करेंगे, काम करेंगे; व्यापारी भी बेईमानी न करेंगे, ईमानदारी से व्यापार करेंगे और मुख्यमन्त्री दिल्ली में ही नहीं जमे रहेंगे, अपने प्रान्त में ही रहकर जनता की सेवा करेंगे; उनकी समस्यायें सुनेंगे, समझेंगे, सुलझायेंगे । जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन देश का नक्शा बदल जायेगा ।

इसीप्रकार जबतक यह आत्मा यह मानता रहेगा कि मैं दूसरों को मारता हूँ, सुखी-दुखी करता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं, बचाते हैं, सुखी-दुखी करते हैं; तबतक दूसरों से राग-द्वेष-मोह भी करता रहेगा ।

कर्तृत्व के अभिमान में ग्रस्त यह आत्मा या तो दूसरों को डरायेगा, धमकायेगा; उन्हें अपने आधीन रखना चाहेगा; नहीं रहने पर स्वयं खेद-खिन्न होगा, दुखी होगा, संतप्त होगा और तनावग्रस्त हो जायेगा या फिर पराधीनता की वृत्ति से दूसरे से डरेगा, उनकी चापलूसी करेगा, उनकी गुलामी करेगा, उनके प्रसन्न न होने पर खेद-खिन्न होगा और दीन-हीन होकर तनावग्रस्त हो जायेगा ।

पर यदि यह आत्मा आचार्य कुन्दकुन्द के निर्देशानुसार यह स्वीकार करले, यह श्रद्धान करले कि न तो मैं किसी को मार-बचा सकता हूँ और न सुखी-दुखी ही कर सकता हूँ तथा न अन्य कोई मुझे मार-बचा सकता है, न सुखी-दुखी ही कर सकता है तो सर्वप्रकार के तनावों से मुक्त हो जायेगा, सहज हो जायेगा, सरल हो जायेगा; सर्वप्रकार से निश्चिन्त हो जायेगा ।

कुछ लोग कहते हैं कि जनसामान्य के सामने इस परमसत्य का उद्घाटन करके आचार्यदेव उनसे क्या अपेक्षा करते हैं ? तात्पर्य यह है कि उनके इस प्रतिपादन का जन-सामान्य को क्या लाभ है ?

आचार्यदेव कहते हैं कि जनसामान्य के सामने इस परमसत्य के उद्घाटन से तो प्रत्येक प्राणी को लाभ ही लाभ है । तनाव की कमी होना भी अपने आप में एक उपलब्धि है, जो इस परमसत्य के समझने से निश्चित रूप से कम होता है । दूसरी बात यह है कि इस जगत के भोले प्राणी अपने भले-बुरे की जिम्मेदारी पड़ोसियों पर डालकर व्यर्थ ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं, यदि वे इस सत्य को हृदयंगम करलें तो उनका पड़ोसियों से बैरभाव निश्चितरूप से कम होगा ।

आज जब कोई युवक अपनी जीवनसंगिनी चुनने के उद्देश्य से किसी युवती तो देखने जाता है तो पहली ही झलक में इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि संबंध करने योग्य है या नहीं । यद्यपि निर्णय पर पहुँचने में घंटों नहीं लगते, महीनों तो लगते ही नहीं; तथापि वह अपनी भावना को व्यक्त नहीं करता, यही कहता है कि हाँ-हाँ, सब ठीक है, पर उत्तर घर पहुँच कर वहाँ से देंगे ।

क्यों ?

क्योंकि वह अच्छी तरह से जानता है कि यदि वह अभी ही अपनी नापसंदगी व्यक्त कर देगा तो वातावरण बोझिल हो जायेगा, चाय-पानी भी संकट में पड़ जायेगा और पसंदगी व्यक्त कर देने पर पिता को सौदा करने का अवसर नहीं रहेगा; अतः वह चतुराई से काम लेता है ।

मान लीजिए कि वह आपके यहाँ लड़की देखकर आपके पड़ोसी के घर भी गया; क्योंकि उसकी उनसे पुरानी जान-पहचान थी, जैसा कि अक्सर होता ही है ।

जब उसके घर पहुँचने के महीनों बाद उसके पिता का उत्तर आया कि हमारे लड़के का अभी तीन वर्ष शादी करने का विचार नहीं है तो आप उद्वेलित हो जाते हैं ।

अरे भाई ! यदि अभी शादी करने का विचार नहीं था तो फिर लड़की देखने ही क्यों गया था ? पर बात यह है कि भारतीयों का मना करने का तरीका ही यह है और यह ठीक ही है; क्योंकि किसी लड़की को अयोग्य बताकर इन्कार करना अच्छी बात तो नहीं है; अतः समझदार लोग इसीप्रकार का उत्तर देते हैं ।

उनका इसप्रकार का उत्तर पाकर आपके चित्त में एक आशंका खड़ी हो जाती है कि लड़के ने लड़की को तो एकदम पसंद कर लिया था, पर बाद में पड़ोस में गया था; हो सकता है कि पड़ोसी ने उसे भड़काया हो, इसीलिए इन्कारी का उत्तर आया है । इसप्रकार की कल्पना करके आप व्यर्थ ही पड़ोसी से द्वेष करने लगते हैं ।

मैं यह नहीं कहता कि पड़ोसी ने उसे बरगलाया नहीं होगा; क्योंकि भारत में ऐसे पड़ोसियों की भी कमी नहीं है, गली-गली में ऐसे पड़ोसी मिल जायेंगे, पर यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि पड़ोसियों के बरगलाने से कुछ होता नहीं है । यदि पड़ोसियों के बरगलाने से संबंध रुक जाते होते तो आज एक भी कन्या की शादी संभव न होती; क्योंकि बरगलाने वाले पड़ोसियों की कमी नहीं है, पर इसकारण आजतक एक भी कन्या कुंवारी नहीं रही । असली बात यह है कि जिसे स्वयं ही संबंध ठीक नहीं लगता, वे ही बरगलाने वालों के चक्कर में आते हैं; जिसे सोलह आने जंच जाता है, उन पर बरगलाने वालों का कोई असर नहीं होता; क्योंकि सब जीवों के सभी लौकिक कार्य अपने क्रमबद्धपर्यायानुसार एवं अपने कर्मोदयानुसार ही होते हैं ।

यह सत्य हम सबके ख्याल में अच्छी तरह आ जावे तो व्यर्थ में ही होने वाले अनन्त राग-द्वेषों से बचा जा सकता है । दूसरों के सोचने, कहने, और करने से हमारा कुछ भी भला-बुरा नहीं होता, हमारा भला-बुरा पूर्णतः हमारे कर्मानुसार ही होता है ।

इसपर यदि कोई कहे कि यदि ऐसा है तो हम पड़ोसियों से राग-द्वेष न करके कर्मों से राग-द्वेष करेंगे; उनसे कहते हैं कि हे भाई ! एक बार तुम पड़ोसियों से राग-द्वेष करना तो छोड़ो, फिर कर्मों से भी राग-द्वेष करना संभव न होगा; क्योंकि कर्म भी तो तुम्हारे किए हुये ही हैं, तुमने ही पर पदार्थों से राग-द्वेष करके जो कर्म बाँधे थे, वे ही तो उदय में आकर इष्ट-अनिष्ट रूप से फलते हैं । इसमें कर्मों का क्या दोष है ? दोष तो पूर्णतः तुम्हारा ही है । इस पर यदि तुम कहो कि यदि ऐसा है तो हम स्वयं से राग-द्वेष करेंगे, पर ऐसा नहीं होता; क्योंकि जब बात स्वयं पर आती है तो सब शांत हो जाते हैं ।

जब कांच का गिलास दूसरों से फूटता है तो हम बड़बड़ाते हैं, पर जब स्वयं से फूट जाता है तो चुपचाप शांत रह जाते हैं, किसी से कुछ नहीं कहते । इसीप्रकार जब आप यह समझेंगे कि जो भी सुख-दुख व अनुकूलता-प्रतिकूलता प्राप्त हो रही है, वह सब मेरे पूर्वकृत कर्मों का ही परिणाम है तो सहज समताभाव जागृत होगा, शान्ति से सब सहन कर साम्यभाव धारण कर लेंगे ।

अतः राग-द्वेष कम करने का सरलतम उपाय अपने सुख-दुख का कारण अपने में ही खोजना है, मानना है, जानना है ।

यह कैसे संभव है कि हमारे पाप का उदय हो और हमें कोई सुखी करदे । इसीप्रकार यह भी कैसे संभव है कि हमारे पुण्य का उदय हो और हमें कोई दुखी करदे । यदि ऐसा होने लग जावे तो फिर स्वयंकृत पाप-पुण्य का क्या महत्त्व रह जायेगा ? उक्त संदर्भ में आचार्य अमितिगति का निम्नांकित कथन ध्यान योग्य है –

"स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥

इस जीव के द्वारा पूर्व में जो शुभ और अशुभ कर्म स्वयं किए कहे गये हैं, उनका ही फल उसे वर्तमान में प्राप्त होता है । यह बात पूर्णतः सत्य है, क्योंकि यदि यह माना जाय कि सुख-दुख दूसरों के द्वारा किये जाते हैं तो फिर स्वयं किए गये संपूर्ण कर्म निरर्थक सिद्ध होंगे ।

अपने द्वारा किये गये कर्मों को छोड़कर इस जीव को कोई भी कुछ नहीं देता । जो कुछ भी सुख-दुख इसे प्राप्त होते हैं, वे सब इसके ही शुभाशुभ कर्मों के फल हैं । इसलिए मन को अन्यत्र न भटका कर, अनन्य मन से इस बात का विचार करके पक्का निर्णय करके हे भव्यात्मा ! 'सुख-दुख दूसरे देते हैं' – इस विपरीत बुद्धि को छोड़ दो ।"

यदि हम जीवनभर पाप करते रहें, फिर भी कोई हमें उन पाप कर्मों के फल भोगने से बचाले, दुखी न होने दे, सुखी करदे तो फिर हम पाप करने से डरेंगे ही क्यों ? बस किसी भी तरह हो, उसे ही प्रसन्न करने में जुटे रहेंगे; क्योंकि सुख-दुख का संबंध अपने कर्मों से न रहकर पर की प्रसन्नता पर आधारित हो गया । यह मान्यता तो पाप को प्रोत्साहित करने वाली होने से पाप ही है ।

इसीप्रकार यदि हम जीवनभर पुण्य कार्य करें, फिर भी कोई हमें दुखी करदे तो फिर हम सुखी होने के लिए पुण्य कार्य क्यों करेंगे, बस उसकी ही सेवा करते रहेंगे, किसी भी प्रकार क्यों न हो, उसे ही प्रसन्न रखेंगे ।

बुरे कार्य करने में हतोत्साहित एवं अच्छे कार्य करने में प्रोत्साहित तो यह जीव तभी होगा, जबकि उसे इस बात का पूरा भरोसा हो कि बुरे कार्य का बुरा फल और अच्छे कार्य का अच्छा फल निश्चितरूप से भोगना ही होगा ।

इसी बात पर व्यंग्य करते हुए किसी कवि ने लिखा है –

अरे जगत में वह ईश्वर क्या कर सकता है इन्साफ ।
अरे प्रार्थना की रिश्वत पर कर देता जो माफ ॥

यदि इस जगत में कोई ईश्वर है और वह पापियों के बड़े-बड़े पापों को भी, प्रार्थना करने मात्र से पापमुक्त कर देता है तो वह दयासागर भले ही कहला ले, पर न्याय नहीं कर सकता है, न्यायवान नहीं है, क्योंकि उसने अपराधी को दंड न देकर स्वयं की चापलूसी करने मात्र से अपराधमुक्त कर दिया, जो सरासर अन्याय है ।

हमने किसी प्राणी को मारा या दुखी किया तो क्षमा करने का अधिकार भी उसी का है, जिसे हमने कष्ट पहुँचाया है । उसे संतुष्ट किए बिना ईश्वर को किसी को भी क्षमा करने का अधिकार कहाँ से प्राप्त हो गया ? यह क्रिया तो पापों को प्रोत्साहित करनेवाली हुई; क्योंकि फिर कोई पाप करने से डरेगा ही क्यों ? उसके पास तो पापों के फल को बिना भोगे ही बचने का उपाय विद्यमान है ।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक अनुकूलता एवं प्रतिकूलता अपने-अपने कर्मोदयानुसार ही प्राप्त होती है; उसमें किसी का भी, यहाँ तक कि किसी सर्वशक्तिमान भगवान का भी हस्तक्षेप संभव नहीं और यही न्यायसंगत भी है ।

'मैं दूसरों को मारता हूँ या बचाता हूँ अथवा सुखी-दुखी करता हूँ' – यह मान्यता अभिमान की जननी है और 'दूसरे जीव मुझे मारते हैं बचाते हैं, सुखी-दुखी करते हैं' – यह मान्यता दीनता पैदा करती है, भयाक्रांत करती है, अशांत करती है, आकुलता-व्याकुलता पैदा करती है ।

अतः यदि हम अभिमान से बचना चाहते हैं, दीनता को समाप्त करना चाहते हैं, आकुलता-व्याकुलता और अशांति से बचना चाहते हैं, निर्भार होना चाहते हैं तो उक्त मिथ्या मान्यता को तिलांजलि दे देना ही श्रेयस्कर है, जड़मूल से उखाड़ फेंकना ही श्रेयस्कर है – सुखी और शांत होने का एकमात्र यही उपाय है ।

इसप्रकार का एक व्याख्यान लगभग सर्वत्र ही हुआ ।

इसप्रकार अमेरिका एवं कनाडा के कार्यक्रम से निवृत्त होकर हम १७ जुलाई, १९८८ ई. को लन्दन पहुँचे, इस अवसर पर लंदन के समीपस्थ नगर लिस्टर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन था, जिसमें देश-विदेश के लगभग दश हजार लोग उपस्थित थे । अत्यन्त सुव्यवस्थित इस समारोह की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें जैन समाज के सभी सम्प्रदायों का सहयोग था और सभी सम्प्रदायों के लोग अत्यन्त उत्साह से सम्मिलित थे ।

डॉ. नटूभाई शाह के नेतृत्व में संचालित यह समारोह सचमुच ही प्रेरणास्पद था, इसमें आद्योपान्त जैन समाज की एकता के स्वर मुखरित होते रहे । हम भी इसी समारोह में ससम्मान आमन्त्रित होकर भाग लेने गये थे। अतः लन्दन में प्रतिवर्ष की भाँति इसवर्ष हॉल में प्रवचन आयोजित नहीं किये गये; क्योंकि हम नहीं चाहते थे कि उक्त कार्यक्रम के समानान्तर कोई अन्य कार्यक्रम हो। फिर भी लोग हमें अधिक से अधिक सुनना चाहते थे और उक्त समारोह में तो अवसर सीमित ही थे । इसकारण लंदन में लक्ष्मीचंदभाई के घर पर ही १७ एवं १८ जुलाई को कार्यक्रम आयोजित किये गये ।

१९ जुलाई, १९८८ ई. को हम लिस्टर पहुँच गये और २३ जुलाई, १९८८ ई. तक वहीं रहे । लिस्टर हम विगत पाँच वर्ष से जा रहे हैं। अतः वहाँ भी लोग हमारे प्रवचन सुनने को लालायित थे । प्रतिष्ठा महोत्सव में तो अधिक अवसर थे नहीं, अतः प्रतिष्ठा महोत्सव समिति की स्वीकृतिपूर्वक एक दिन बच्चूभाई के घर व एक दिन स्थानकवासी समाज के अध्यक्ष के घर पर हमारे कार्यक्रम रखे गये, जिनका लगभग २०० लोगों ने लाभ लिया ।

उक्त अवसर पर पंचकल्याणक समिति एवं जैन शोसल ग्रुप के तत्त्वावधान में २१ जुलाई, १९८८ ई. से २३ जुलाई, १९८८ ई. तक जैन विश्व कॉन्फ्रेन्स आयोजित थी । इसमें भाग लेने के लिए देश-विदेश के अनेक गणमान्य लोग उपस्थित थे, जिनमें भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी, श्रवणबेलगोल

(कर्नाटक) सर्वश्री श्रेणिकभाई कस्तूरभाई अहमदाबाद, साहू अशोककुमारजी जैन दिल्ली, दीपचंदजी गार्डी बम्बई, सी. एन. संघवी बम्बई, रतनलालजी गंगवाल कलकत्ता एवं निर्मलकुमारजी सेठी लखनऊ आदि प्रमुख थे ।

इस कॉन्फ्रेन्स में अनेक सत्र आयोजित थे । प्रत्येक सत्र का संयोजन अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा किया जाता था । प्रत्येक सत्र में २ या ३ मुख्य वक्ता रहते थे । इस प्रसंग पर चि. परमात्मप्रकाश भारिल्ल भी पहुँच गये थे। वे अपने व्यापारिक कार्य से एन्टवर्व (बेल्जियम) गये थे । वहीं से इसमें भाग लेने आ गये थे । उद्घाटन सत्र में उन्होंने भी अपने विचार व्यक्त किये थे ।

विश्व जैन कॉन्फ्रेंस के जिस सत्र में मेरा व्याख्यान था, उस सत्र का संयोजन श्री निर्मलकुमारजी सेठी को करना था । अतः हम एक साथ स्टेज पर तो थे ही, उन्होंने ही उपस्थित समाज को मेरा परिचय भी दिया था। उस सभा में मैंने जैन समाज की एकता एवं शाकाहार पर विचार व्यक्त किये थे, जिनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

आज अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि इस महान उत्सव में जैन समाज के सभी सम्प्रदाय एकत्रित हैं और मिलजुलकर सभी कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

मलिन वस्तुओं को भी निर्मल कर देनेवाला गंगा का अत्यन्त निर्मल जल भी जब घड़ों में कैद हो जाता है तो दूसरों को पवित्र कर देने की उसकी क्षमता तो समाप्त हो ही जाती है, वह स्वयं ही दूसरों के छू लेने मात्र से अपवित्र होने लगता है ।

गंगा के पवित्र जल में बिना किसी भेदभाव के सभी नहाते हैं और अपने को पवित्र अनुभव करते हैं, परन्तु जब गंगा का जल लोग अपने घड़ों में भर लेते हैं तो वह गंगा का जल गंगा का जल न रहकर ब्राह्मण का जल, क्षत्रिय का जल, शूद्र का जल हो जाता है । यदि एक जाति

वाले के घड़े को दूसरी जातिवाला छू ले तो लोग उस जल को अपवित्र मानने लगते हैं। कहते हैं — तूने मेरा पानी क्यों छू लिया ? वही गंगा का जल जो सबको पवित्र करता था, घड़ों में भर जाने से स्वयं अछूत हो गया । उसकी दूसरों को पवित्र करने की शक्ति तो समाप्त हो ही गई, वह स्वयं भी दूसरे के छू लेने मात्र से अपवित्र होने लगा ।

इसीप्रकार सबको पावन कर देनेवाला यह जिनवाणी रूपी गंगा का जल जब सम्प्रदायों के घड़ों में भर जाता है तो उसमें वह क्षमता नहीं रहती कि दूसरों के चित्त को शान्त कर दे, अपितु साम्प्रदायिक उपद्रवों का कारण बनने लगता है; अतः यही श्रेष्ठ है कि गंगाजल गंगा में ही रहे, उसे घड़ों में बन्द न किया जाय ।

गंगा के ही किनारे रखे गंगाजल से भरे घड़े छुआछूत पैदा करते हैं तो क्या उपाय है इस बुराई से बचने का ?

भाई, एक ही उपाय है कि उन घड़ों को फोड़ दिया जाय, क्योंकि पानी में तो कोई दोष है नहीं, वह तो वैसा का वैसा ही निर्मल है; दोष तो घड़ों में है । घड़ों के फूटने पर गंगा का पानी गंगा में ही मिल जायगा, गंगा में मिलते ही वह वही पावनता प्राप्त कर लेगा, पावन करने की शक्ति भी प्राप्त कर लेगा, जो उसमें घड़ों में कैद होने के पहले विद्यमान थी ।

इसीप्रकार सम्प्रदायों में विभक्त जैनत्व, जो आज साम्प्रदायिक सड़ांध पैदा कर रहा है, कलह का कारण बन रहा है; यदि वह उन्मुक्त हो जावे तो अपनी पावनता को तो सहज उपलब्ध कर ही लेगा, अपनी पवित्रता की शक्ति से जैन समाज को ही नहीं, सम्पूर्ण दुनिया को प्रकाशित कर देगा, सुख-शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर देगा ।

हमने अपने ही अज्ञान से बहुत-सी दीवालें खड़ी कर ली हैं । सम्प्रदायों की दीवालें, जाति की दीवालें, भाषा की दीवालें, प्रान्त की दीवालें; चारों

ओर दीवालें ही दीवालें हैं और ये दीवालें निरन्तर ऊँची होती जा रही हैं। दीवाल को अंग्रेजी में वाल कहते हैं । आज हम इन वालों-दीवालों के बीच विभक्त हो गये हैं । कोई खण्डेलवाल है, कोई अग्रवाल है, कोई ओसवाल; पर जैन कोई भी दिखाई नहीं देता । यदि हम इन वालों-दीवालों को गिरा दें और सभी जैनत्व के महासागर में समाहित हो जावें तो हम वीतराग वाणी को जन-जन तक पहुँचा सकते हैं, और यह वीतराग वाणी जन-जन तक पहुँचकर सम्पूर्ण जगत को सुख-शान्ति का मार्ग दिखा सकती है । अतः अब समय आ गया है कि हम साम्प्रदायिक बाड़ों में कैद न रहें, जाति, प्रान्त और भाषा की सीमाओं में सीमित न रहें । यदि हम अहिंसारूपी वीतरागी तत्वज्ञान को असीम जगत तक पहुँचाना चाहते हैं तो हमें इन छुद्र सीमाओं को भेदकर इनसे बाहर आकर महावीर वाणी के सार को जन-जन तक पहुँचाने के महान कार्य में जी-जान से जुट जाना चाहिये। यही सन्मार्ग है और इसी में हम सबका हित निहित है ।

शाकाहार के सन्दर्भ में जो बात मैंने कही, उसका सार इसप्रकार है:—

"आजकल अंडों को शाकाहारी बताकर लोगों को भ्रष्ट किया जा रहा है । इस प्रचार के शिकार कुछ जैन युवक भी हो रहे हैं । अतः हम सबकी यह सामूहिक जिम्मेदारी है कि इस सन्दर्भ में समाज को जागृत करें।

शाकाहार तो वनस्पति से उत्पन्न खाद्य को ही कहा जाता है, पर अंडे न तो अनाज के समान किसी खेत में ही पैदा होते हैं और न साग-सब्जी और फलों के समान किसी बेल या वृक्ष पर ही फलते हैं; वे तो स्पष्टतः ही सैनीपंचेन्द्रिय मुर्गियों की संतान हैं । यह तो हम सब जानते ही हैं कि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के शरीर का अंश ही मांस है; अतः अंडे से उत्पन्न खाद्य स्पष्ट रूप से मांसाहार ही है ।

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि दूध भी तो गाय-बकरी के शरीर का ही अंश है, पर उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दूध और अंडे में जमीन-आसमान का अन्तर है । दूध के निकलने से गाय-बकरी के जीवन को कोई हानि नहीं पहुँचती, जबकि अंडे के सेवन से अंडे में विद्यमान जीव का सर्वनाश ही हो जाता है । यदि दूध देनेवाली गाय-बकरी का दूध समय पर न निकले तो उसे तकलीफ होती है। दूध पिलानेवाली माताओं को यदि कारणवश अपने बच्चों को दूध पिलाने का अवसर प्राप्त न हो तो उन्हें बुखार तक आ जाता है, उन्हें अपने हाथ से दूध निकालना पड़ता है ।

इसपर यदि कोई कहे कि भले ही दूध निकालने से गाय को तकलीफ न होती हो, आराम ही क्यों न मिलता हो; पर उसके दूध पर उसके बछड़े का अधिकार है, आप उसे कैसे ले सकते हैं ? क्या यह गाय और बछड़े के साथ अन्याय नहीं है ?

हाँ इसे एक दृष्टि से अन्याय तो कह सकते हैं, पर इसमें वैसी हिंसा तो कदापि नहीं, जैसी कि मांसाहार में होती है । गहराई से विचार करें तो इसे अन्याय कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि गाय का दूध लेने के बदले में गाय और बछड़े के भोजन-पानी, रहने एवं अन्य सभी प्रकार की सुरक्षा की व्यवस्था की जाती है । यदि गाय से दूध प्राप्त न किया जाय तो उसके भोजन-पानी की व्यवस्था भी कौन करेगा ?

गाय की बात तो ठीक, पर बछड़े के साथ तो अन्याय है ही; क्योंकि उसका अधिकार तो छीना ही गया है ।

ऐसी बात भी नहीं है; एक तो उसके बदले में उसे अन्य उपयुक्त खाद्य सामग्री खिलाई जाती है, दूसरे गाय को पौष्टिक आहार देकर अतिरिक्त दुग्ध उत्पादन किया जाता है । उस अतिरिक्त दूध को सज्जन लोग प्राप्त करते हैं, बछड़े का हिस्सा तो बछड़े को प्राप्त होता ही है ।

यदि वह गाय जंगल में रहती और घास-पत्ती पर ही निर्भर रहती तो उसके एकाध किलो ही दूध होता; पर जब हम उसे खली आदि पौष्टिक पदार्थ खिलाते हैं तो वही गाय चार-पांच किलो दूध देती है । बछड़े को तो उसका एकाध किलो दूध मिल ही जाता है; अतिरिक्त दूध ही सज्जन लोग प्राप्त करते हैं ।

इसप्रकार यह तो एकप्रकार से आदान-प्रदान है, इसमें अन्याय भी कहां है ? यदि इसप्रकार अन्याय की कल्पना करेंगे तो फिर इसप्रकार का आदान-प्रदान तो मनुष्य जाति में भी परस्पर होता ही है, हम दूसरे से उचित पारिश्रमिक देकर सेवायें प्राप्त करते ही हैं । किसी बेकार व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक देकर रोजगार देने को तो लोक में परोपकार कहा जाता है, शोषण नहीं, अन्याय भी नहीं । इसीप्रकार गाय और बछड़े की सर्वप्रकार की उचित सेवा के बदले में दूध प्राप्त करने को भी परस्पर उपकार के अर्थ में देखा जाना चाहिए, अन्याय या शोषण के अर्थ में नहीं । भारतीय संस्कृति में गाय को तो माँ जैसा सन्मान प्राप्त है ।

अतः अंडे की तुलना दूध से करना असंगत तो है ही, अज्ञान की सूचक भी है । इसपर भी यदि कोई कहे कि जिसप्रकार दूध न निकले तो गाय को तकलीफ हो सकती है या दूध के बदले में हम गाय को चारा-पानी देते हैं; उसीप्रकार मुर्गी का अंडा देना भी उसे सुखकर ही होता है तथा अंडा लेने के बदले हम उसका पालन-पोषण भी करते ही हैं । अतः दूध व अंडा समान ही हुए ।

यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार अंडा मुर्गी की संतान है, उसप्रकार दूध गाय की संतान नहीं है । अतः सच तो यह है कि अंडा दूध के समान नहीं, गाय के बछड़े के समान है । अतः अंडा खाना बछड़े को खाने जैसा ही है ।

इसप्रकार कुछ लोग कहते हैं कि शाकाहारी अंडे से बच्चे का जन्म नहीं हो सकता; अतः वह दूध के समान अजीव ही है; पर यह बात एकदम

गलत है; क्योंकि वह मुर्गी के प्रजनन अंगों का उत्पादन है, अतः अशुचि तो है ही; साथ ही उत्पन्न होने के बाद भी बढ़ता है, सड़ता नहीं है; अतः सजीव भी है; भले ही पूर्णता को प्राप्त होने की क्षमता उसमें न हो, पर उसे अजीव किसी भी स्थिति में नहीं माना जा सकता है ।

दूसरी बात यह भी तो है कि उसका नाम अंडा है, वह अंडाकार है, अंडे के ही रूप-रंग का है; उसके खाने में अंडे का ही संकल्प है । यदि किसी के कहने से उसे अजीव भी मान लिया जाय, तब भी उसके सेवन में अंडे का ही संकल्प होने से मांसाहार का पूरा-पूरा दोष है ।

हमारे यहाँ तो आटे के मुर्गे के बध का फल भी नरक-निगोद बताया है, फिर इस साक्षात् अंडे का सेवन कैसे संभव है ?

अंडा खाने में जो संकोच अभी हमारी वृत्ति में है, एक बार अजीव शाकाहारी अंडे के नाम पर उस संकोच के समाप्त हो जाने पर फिर कौन ध्यान रखता है कि जिस अंडे का सेवन हम कर रहे हैं वह सजीव है या अजीव ?

अतः शाकाहारी अंडे के दुष्प्रचार से शाकाहारियों को बचाना हम सबका प्राथमिक कर्त्तव्य है । कहीं ऐसा न हो कि एक ओर हम छोटी-छोटी बातों को लेकर लड़ते-झगड़ते रहें और दूसरी ओर हमारी आगामी पीढ़ी पूर्णतः संस्कारहीन, तत्त्वज्ञानहीन और सदाचारहीन हो जाय ? यदि ऐसा हुआ तो इतिहास हमें कभी क्षमा नहीं करेगा ।

अतः इस अवसर पर कॉन्फ्रेन्स के कर्णधारों एवं आप सबसे मैं यह मार्मिक अपील करना चाहता हूँ कि समय रहते हम इस ओर ध्यान दें, सभीप्रकार के आपसी मतभेदों को भुलाकर आगामी पीढ़ी को संस्कारित करने का दृढ़ संकल्प करें, उस दिशा में सक्रिय हों; अन्यथा हमारी इस उपेक्षा का परिणाम आगामी एक नहीं अनेक पीढ़ियों को भुगतना होगा ।

हमारी इस सामयिक चेतावनी एवं एकता की अपील को न केवल सभी ने शान्ति से सुना ही, अपितु उसकी गंभीरता को गहराई से अनुभव भी किया।

उक्त प्रसंग में सहज ही निकट सम्पर्क होने से भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मलकुमारजी सेठी से दिगम्बर जैन समाज की आज की समस्याओं पर भी थोड़ी-बहुत चर्चा हुई । व्यस्त कार्यक्रमों के कारण समयाभाव होने से विस्तृत चर्चा तो न हो सकी, पर जो भी चर्चा हुई, उसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है :–

सामान्य औपचारिक बातचीत के उपरान्त मैंने उनसे कहा – दिगम्बर समाज की शक्ति व्यर्थ के ही विवादों में बर्बाद हो रही है, जब हम श्वेताम्बर भाइयों से इतना समायोजन कर सकते हैं तो थोड़े-बहुत मतभेदों के रहते आपस में भी क्यों नहीं कर सकते हैं ? जितना श्रम, शक्ति, बुद्धि एवं पैसा दिगम्बर समाज आपसी विवादों में बर्बाद कर रही है, यदि वह सब समाज के हित व धर्म के प्रचार में लग जावे तो दिगम्बर समाज का कायाकल्प हो सकता है, उसमें नई चेतना जागृत हो सकती है और वह आज की चुनौतियों को स्वीकार कर विश्व के सामने एक आदर्श उपस्थित कर सकता है ।

आज की दुनिया कहाँ जा रही है और हम कहाँ उलझकर रह गये हैं। यदि हम चाहते हैं कि दिगम्बर धर्म का प्रचार-प्रचार देश-विदेशों में हो तो हमें इस मुद्दे पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए ।

मेरी इस भावना की सेठीजी ने भी सराहना की और कहा कि आपने "आचार्य कुन्दकुन्द और दिगम्बर जैन समाज की एकता"[१] नामक लेख में भी यह अपील की है, मैंने उसे पढ़ा है ।

---

१. सम्पादकीय : वीतराग-विज्ञान, जून १९८८

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए मैंने एक उदाहरण दिया कि एक दम्पति (पति-पत्नी) में उग्र मतभेद चल रहे थे, तलाक की नौबत आ गई थी, दोनों अलग-अलग रह रहे थे । इसी बीच पत्नी के पिता का पत्र आया। उसमें उसने अपनी इकलौती बेटी को लिखा था कि अब मैं पूर्णतः अकेला रह गया हूँ । अतः जीवन के अन्तिम वर्ष अध्यात्म-नगरी काशी में गुजारना चाहता हूँ । उसके पहले सात दिन तुम्हारे पास रहना चाहता हूँ । तुम्हारे पास रहकर यह देखना चाहता हूँ कि तुम सुखी तो हो, पति-पत्नी प्रेम से तो रहते हो; तुम्हारी सुखी गृहस्थी देखकर मैं निश्चिंत होकर काशी वास कर सकूँगा, अन्यथा मेरे चित्त में तुम्हारी सुख-सुविधा का विकल्प खड़ा रहेगा और मेरा मरण शान्ति से नहीं हो सकेगा ।

मैं सर्वप्रकार निश्चिंत होकर जीवन के अन्तिम दिन गुजारना चाहता हूँ, मेरा मरण शान्ति से समाधिमरण हो – इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मैं तुम्हारी ओर से निश्चित हो जाऊँ; क्योंकि अब इस दुनिया में तुम्हारे अतिरिक्त मेरा है ही कौन ?

पिता का इसप्रकार का पत्र पाकर वह चिन्तामग्न हो गई, साहस बटोर कर पति के पास पहुँची । देखते ही पति व्यंगवाण छोड़ता हुआ बोला –

"अच्छा अब आ गई महारानीजी, आ गई अकल ठिकाने"

मर्माहत वह बोली – "चिन्ता न करें, मैं रहने नहीं आई हूँ; यह पत्र आया है, यही दिखाने आई हूँ ।"

पत्र लेते हुए पति बोला – "किसका है? क्या लिखा है?"

पत्र देते हुए पत्नी बोली – "पिताजी का ।"

पत्र पढ़कर पति बोला – "इस पत्र के सन्दर्भ में मुझसे क्या चाहती हो? मैं क्या कर सकता हूँ तुम्हारे पिताजी के लिए?

पत्नी बोली – "यदि हम चाहें तो पिताजी का मरण तो सुधर ही सकता है"

"कैसे ?"

"सात दिन तक प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहने का नाटक करके"

"प्रस्ताव तो बुरा नहीं है, पर ......"

"पर क्या ? क्या हम पिताजी के लिए इतना भी बलिदान नहीं कर सकते ?........"

"क्यों नहीं ?"

इसप्रकार सुनिश्चित करके सुनिश्चित दिन पर दोनों ही एकसाथ मिलकर पिताजी को लेने स्टेशन पहुँचे, प्रेम से उन्हें लाए, सात दिन तक इसप्रकार रहे कि मानो उनमें प्रगाढ़ स्नेह हो, वे आदर्श दम्पति हों ।

सात दिन बाद जब वे उन्हें स्टेशन पर बिदा करने गये, तब उन्हें बिदा करके अपने-अपने घर जाने लगे तो पति ने पत्नी से कहा –

"सुनो, जरा विचार तो करो कि जब हम दूसरों के सुख के लिए एकसाथ प्रेमपूर्वक रहने का इतना अच्छा नाटक लगातार सात दिन तक कर सकते हैं तो अपने सुख के लिए यह नाटक जीवन भर भी क्यों नहीं कर सकते हैं ?"

पत्नी बोली – "क्यों नहीं? अवश्य कर सकते हैं ।"

इसप्रकार वे दोनों पति-पत्नी प्रेमपूर्वक रहने लगे । कुछ दिन तो प्रेम का नाटक रहा, पर कुछ दिन बाद उनमें सहज प्रेमभाव भी जागृत हो गया।

इसीप्रकार जब हम सम्पूर्ण जैन समाज की एकता के लिए श्वेताम्बर भाइयों के साथ प्रेमपूर्वक उठ-बैठ सकते हैं, मिलजुल कर काम कर सकते हैं, सबप्रकार से समायोजन कर सकते हैं, तब फिर दिगम्बर समाज की एकता के लिए क्यों नहीं प्रेमपूर्वक उठ-बैठ सकते हैं, क्यों नहीं मिलजुल कर काम कर सकते हैं ? सभीप्रकार का समायोजन भी क्यों नहीं कर

सकते हैं ? जितना अन्तर दिगम्बर-श्वेताम्बर मान्यताओं में है, उतना अन्तर तो हम और आप में नहीं है न ?

एकबार ऊपरी मन से एकसाथ उठने-बैठने लगें तो फिर सहज वात्सल्य भी जागृत हो जायेगा । अनावश्यक दूरी व्यर्थ ही आशंकाएँ उत्पन्न करती है । दूरी समाप्त करने का एकमात्र उपाय सहज भाव से नजदीक आना ही है ।

इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में आप जिसप्रकार का समायोजन कर रहे हैं और दिगम्बर प्रतिमाओं की जिसप्रकार प्रतिष्ठा हो रही है; उस पर मैं कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता, मुझे कोई विरोध भी नहीं है; पर यह अवश्य पूछना चाहता हूँ कि भारत में हम जो प्रतिष्ठाएँ कराते हैं; वे क्या आपकी दृष्टि में ऐसी भी नहीं हैं, जो आप उनका इतना विरोध करते हैं ? आपसे यही अनुरोध है कि दिगम्बर धर्म के प्रचार-प्रसार एवं दिगम्बर समाज की सुख-शान्ति व एकता के लिए इन सब बातों पर एकबार गंभीरता से विचार करें ।

हमारी यह सम्पूर्ण वार्ता अत्यन्त स्नेहपूर्ण वातावरण में हुई । सेठीजी ने भी यही कहा कि हम भी यही चाहते हैं, पर हमारी कुछ आशंकाएँ हैं, जिनका निवारण हम आपसे करना चाहते हैं ।

मैंने कहा – "अवश्य पूछिए, क्या पूछना चाहते हैं ?"

उन्होंने कहा – "एक तो आप यह बताइये कि आप कोई नया पंथ तो नहीं चलाना चाहते ?"

मैंने कहा – "एकदम नहीं, हम कोई नया पंथ नहीं चलाना चाहते । आप ही हमें 'कानजी पंथी' कहते हैं, हमने स्वयं तो कभी अपने को 'कानजी पंथी' कहा ही नहीं ।"

वे बोले – "क्या यह सत्य है ?"

मैंने कहा – "इसमें क्या शक ?"

वे फिर बोले – "आप अभी तो कह रहे हैं, पर फिर बदल न जाइयेगा।"

मैंने कहा – "क्या बात करते हैं ? हम उनमें से नहीं हैं, जो कहकर बदल जाते हैं, अभी तक आपका और हमारा व्यवहार नहीं हुआ है, अतः आप इसप्रकार की बातें कर रहे हैं ।"

वे बोले – "हमें विश्वास नहीं होता । इसलिए मैं यह बात कर रहा हूँ । आप कहें तो मैं यह बात छपवा दूँ ।"

मैंने कहा – "अवश्य छपवा दीजिए । आप क्या मैं स्वयं ही इस बात को लिखूँगा । फिर तो आपको कोई शंका नहीं रहेगी ।"

उन्होंने मेरी इस बात पर बहुत प्रसन्नता व्यक्त की । फिर कहने लगे–

"अपन श्रवणबेलगोला में सहस्राब्दी समारोह पर मिले थे, बहुत चर्चा भी की थी, पर उसके बाद मिलना नहीं हुआ । अभी मवाना शिविर के पहले दिल्ली में भी आपने चर्चा नहीं की ।"

मैंने कहा – "रूपचंदजी कटारिया ने बात की थी, पर उससमय वातावरण कितना विषाक्त था । क्या ऐसे विषाक्त वातावरण में भी कोई चर्चा सफल हो सकती है ? चर्चा के लिए सौम्य वातावारण चाहिए, सहज वातावरण चाहिए ।

चर्चा मात्र चर्चा के लिए ही तो नहीं करनी है । कुछ रास्ता निकले, तभी चर्चा सफल होती है । इसके लिए पूर्व तैयारी अत्यन्त आवश्यक है।

आप या हम तभी तो कोई बात स्वीकार कर सकते हैं, जब उस बात को अपने-अपने पक्ष की जनता को भी स्वीकृत करा सके । यदि अपने पक्ष की जनता को स्वीकार न करा सके तो हमारे और आपके स्वीकार करने मात्र से क्या होगा ?

सामाजिक एकता के लिए विशाल दृष्टिकोण से कार्य करना होगा और ऐसा समाधान खोजना होगा, जो संबंधित सभी व्यक्तियों को स्वीकार हो सके, अन्यथा एकता संभव नहीं हो सकती । समझौता का रास्ता अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी होते हुए भी सहज व सरल नहीं होता; इसमें हमारी बुद्धि, क्षमता, सामाजिक पकड़, धैर्य सभी कसौटी पर चढ़ जाते हैं । फिर भी यदि दोनों पक्ष एक-दूसरे की कठिनाइयाँ समझें और सच्चे दिल से रास्ता खोजें तो मार्ग मिलता ही है ।

एकबार एकसाथ मिलना-बैठना आरंभ हो जाय तो बहुत-सी समस्याएँ तो अपने-आप समाप्त हो जाती हैं ।

एक बात यह भी तो है कि हम और आप ही तो सबकुछ नहीं हैं, आपके साथी-सहयोगी भी हैं और हमारे भी साथी-सहयोगी हैं । जबतक उनसे विचार-विमर्श कर पहल न की जावे तबतक कुछ भी संभव नहीं ।

इस सब के लिए वातावरण में भी कुछ नरमी तो आनी ही चाहिए । बिना नरमी के जब एक साथ उठना-बैठना ही संभव नहीं है तो एकता का रास्ता कैसे निकल सकता है ? आप जरा अपने पक्ष में नरमी का वातावरण बनाइये, जिससे संवाद की स्थिति बन सके । हम स्वयं इस दिशा में वर्षों से सक्रिय हैं, इस दिशा में हमने अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए हैं, अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी उनका सफल क्रियान्वयन भी किया है । हमारे उक्त प्रयत्नों से सभी समाज भली-भाँति परिचित हैं; उनका उल्लेख करना न तो आवश्यक ही है और उचित ही है । यद्यपि हमारे उक्त प्रयत्नों के सुपरिणाम आरहे हैं, तथापि जन-मानस बदलना इतना आसान तो नहीं; सच्ची लगन और निष्ठापूर्वक वर्षों तक इस दिशा में सक्रिय रहने की आवश्यकता है । मुझे विश्वास है कि एक न एक दिन हमारा श्रम सफल होगा ही ।

सफल वार्ता की निर्मल भूमिका के लिए आपको भी कुछ ऐसे कदम उठाने चाहिए, जिससे आवश्यक चर्चा के लिए सदाशयता का वातावरण बन सके।

मेरी यह भावना जानकर सेठीजी ने जिस प्रसन्नता से उसका स्वागत किया था, उससे मुझे आशा बंधी थी कि अब वातावरण में कुछ न कुछ नरमी अवश्य आयेगी ।

कुछ समय तक मुझे ऐसा लगा भी कि वातावरण सुधर रहा है, पर बाद में फिर गाड़ी उसी लाइन पर चल निकली । उसके बाद अभी तक तो कोई प्रसंग बना नहीं है, अब देखें कब बनता है ?

एकता, शान्ति, सहयोग का वातावरण जिसप्रकार आज सारी दुनिया में बन रहा है बड़े से बड़े विरोधी जिसप्रकार एक टेबल पर बैठकर समस्याएँ सुलझा रहे हैं; उससे लगता है कि काल ही कुछ ऐसा पक रहा है कि जिसमें सभी समीकरण बदल रहे हैं; शत्रु नजदीक आ रहे हैं, मित्र दूर जा रहे हैं। दिगम्बर समाज के क्षितिज पर भी इसका असर दिखाई दे रहा हैं। कह नहीं सकते भविष्य में कब क्या समीकरण बने ? अतः इससमय बड़ी ही सतर्कता से समाज व धर्म के हित में काम करने की आवश्यकता है। समय की अनुकूलता का समाज के हित में उपयोग कर लेना ही बुद्धिमानी है; क्योंकि गया समय फिर लौटकर वापिस नहीं आता ।

मैं सदा आशावादी रहा हूँ । अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आयगा कि सन्देह के बादल विघटित होंगे और समाज में एकता के साथ-साथ नई स्फूर्ति भी आयेगी ।

मुझे अपना व्याख्यान समाप्त करके तत्काल ही लन्दन के लिए रवाना होना था; क्योंकि मेरा शाम को लन्दन में प्रवचन था; अतः सेठीजी को

लिस्टर में ही छोड़कर मुझे लन्दन के लिए रवाना होना पड़ा, अन्यथा वे हमारे साथ ही लन्दन आनेवाले थे, शाम का भोजन भी हम साथ ही करनेवाले थे ।

लौटकर लन्दन में फिर हमारे दो प्रवचन हुए । हमारे प्रवचन के पूर्व चिरंजीव परमात्मप्रकाश के प्रवचन रखे गये थे । चूँकि वे गुजराती में प्रवचन करते थे; अतः लोगों ने उन्हें हमसे भी अधिक पसंद किया; क्योंकि श्रोताओं में गुजराती भाषी लोग अधिक रहते थे । हम तो २५ जुलाई, १९८८ ई. के प्रातः बम्बई के लिए रवाना हो गये, पर परमात्मप्रकाश को कुछ व्यापारिक कार्य था; अतः वे रुक गये । अतः उनका प्रवचन २५ जुलाई, १९८८ ई. को भी लन्दन में हुआ ।

२७ जुलाई को हम बम्बई पहुँचे और वहाँ से २८ जुलाई को ही कोथली (कर्नाटक) के लिए रवाना हो गये; क्योंकि वहाँ आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज के सान्निध्य में आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह का उद्‌घाटन था । वहाँ पर समाज के सभी गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। दिगम्बर जैन महासमिति के अध्यक्ष साहू श्रेयांसप्रसादजी, महामंत्री श्री बाबूलालजी पाटोदी, दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष साहू अशोककुमारजी, महामंत्री जयचंदजी लुहाड़े, आदि अनेक महानुभाव उपस्थित थे ।

वहाँ भी महाराजश्री की प्रेरणा से लगभग दश हजार के जनसमूह में हमें दो बार बोलने का अवसर प्राप्त हुआ । पहली बार तो हमने सामाजिक परिस्थिति पर ही प्रकाश डाला, सामाजिक एकता पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह पर अपना समर्पण व्यक्त किया तथा इस अवसर पर हम क्या कर रहे हैं – यह भी बताया; पर दूसरे व्याख्यान के पूर्व महाराजश्री का स्पष्ट आदेश था कि सामाजिक बातें तो सभी करते हैं, आप तो उपस्थित समाज को समयसार ही सुनाइये; सब आपसे समयसार ही सुनना चाहते हैं ।

महाराजश्री की आज्ञा शिरोधार्य कर हमने समयसार की १९वीं गाथा के भाव को सरलतम भाषा में लगभग ३0 मिनट तक समझाया; जिसे सभी ने बहुत पसंद किया ।

इसप्रकार यह हमारी विदेशयात्रा अनेक मंगल प्रसंगों, सुखद संस्मरणों एवं नई आशा और उमंगों को अपने में समेटे निर्विघ्न समाप्त हुई और हम नये विश्वास के साथ ३ अगस्त, १९८८ ई. को अपने घर जयपुर आ पहुँचे, जहाँ ७ अगस्त, १९८८ ई. से १५ दिन का शिक्षण शिविर आयोजित था।

प्राप्ति और प्रचार

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार दो अलग-अलग चीजें हैं । सत्य की प्राप्ति के लिए समस्त जगत से कटकर रहना आवश्यक है । इसके विपरीत सत्य के प्रचार के लिए जन-सम्पर्क जरूरी है । सत्य की प्राप्ति व्यक्तिगत क्रिया है और सत्य का प्रचार सामाजिक प्रक्रिया । सत्य की प्राप्ति के लिए अपने में सिमटना जरूरी है और सत्य के प्रचार के लिए जन-जन तक पहुँचना ।

साधक की भूमिका और व्यक्तित्व द्वैध होते हैं । जहाँ एक ओर वे आत्मतत्त्व की प्राप्ति और तल्लीनता के लिए अन्तरोन्मुखी वृत्तिवाले होते हैं, वहीं प्राप्त सत्य को जन-जन तक पहुँचाने के विकल्प से भी वे अलिप्त नहीं रह पाते हैं ।

उनके व्यक्तित्व की यह द्विविधता जन-सामान्य की समझ में सहज नहीं आ पाती । यही कारण है कि कभी-कभी वे उनके प्रति शंकाशील हो उठते हैं ।

यद्यपि उनकी इस शंका का सही समाधान तो तभी होगा जबकि वे स्वयं उक्त स्थिति को प्राप्त होंगे, तथापि साधक का जीवन इतना सात्विक होता है कि जगत-जन की वह शंका अविश्वास का स्थान नहीं ले पाती ।

— सत्य की खोज, पृष्ठ - १३५

६

धूम क्रमबद्धपर्याय की

"क्रमबद्धपर्याय ओरों के लिए एक सिद्धान्त हो सकती है, एकान्त हो सकती है, अनेकान्त हो सकती है, मजाक हो सकती है, राजनीति हो सकती है, पुरुषार्थप्रेरक या पुरुषार्थनाशक हो सकती है, अधिक क्या कहें – किसी को कालकूट जहर भी हो सकती है । किसी के लिए कुछ भी हो; पर मेरे लिए वह जीवन है, अमृत है; क्योंकि मेरा वास्तविक जीवन, अमृतमय जीवन, आध्यात्मिक जीवन – इसके ज्ञान, इसकी पकड़ और इसकी आस्था से ही आरंभ हुआ है ।

क्रमबद्धपर्याय की समझ मेरे जीवन में मात्र मोड़ लाने वाली ही नहीं, अपितु उसे आमूलचूल बदल देने वाली संजीवनी है । मेरी दृढ़ आस्था है कि जिसकी भी समझ में इसका सही स्वरूप आयेगा, यह तथ्य सही रूप में उजागर होगा – उसकी जीवन भी आनन्दमय, अमृतमय हुए बिना नहीं रहेगा ।

यही कारण है कि मैं इसे घर-घर तक ही नहीं, अपितु जन-जन तक पहुँचा देना चाहता हूँ; इसे जन-जन की वस्तु बना देना चाहता हूँ ।[१]"

१० वर्ष पूर्व जब मैंने यह लिखा था, तब मुझे यह कल्पना भी नहीं थी कि 'क्रमबद्धपर्याय' का यह अलौकिक सिद्धान्त एक दशक में ही विश्वव्यापी हो जायगा । चाहे पक्ष में हो या विपक्ष में पर आज सम्पूर्ण विश्व के जैन जगत का यह सर्वाधिक बहुचर्चित विषय है ।

देश में या विदेश में इन दिनों मैं जहाँ भी जाता हूँ, सर्वत्र ही न चाहते हुए भी एक-दो प्रवचन 'क्रमबद्धपर्याय' पर अवश्य करने पड़ते हैं । अबतक

---

१. आत्मधर्म (हिन्दी) अक्टूबर, १९७९ ई. का सम्पादकीय पृष्ठ ३

मैं इस विषय पर सैकड़ों प्रवचन कर चुका हूँ, चर्चा तो निरन्तर होती ही रहती है; तथापि लोगों की जिज्ञासा बढ़ती ही जा रही है; लोग चाहते हैं कि मैं अधिक से अधिक इसी विषय पर प्रवचन करूँ, चर्चा में भी इसी से सम्बन्धित प्रश्न अधिक आते हैं ।

सन् १९८० ई. में सर्वप्रथम प्रकाशित मेरी लोकप्रिय कृति 'क्रमबद्धपर्याय' अबतक हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल और अंग्रेजी इन छह भाषाओं में लगभग पौन लाख प्रकाशित हो चुकी है, जन-जन तक पहुँच चुकी है; फिर भी प्रत्येक भाषा में उसकी माँग अभी भी निरन्तर बनी हुई है ।

गूढ़तम विषय को प्रतिपादित करने वाली इस दार्शनिक कृति की इतनी लोकप्रियता भी लोगों के मानस का प्रतिबिम्ब है । इसके विरोध में भी एक-दो छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी गईं, पर वे हजार-पाँच सौ छपकर ही रह गई हैं । मैंने भी उन्हें देखा है, पर उनमें न तो सबल तर्क हैं, न प्रबल युक्तियाँ और न उपयुक्त आगम प्रमाण ही; यही कारण है कि वे जन-मानस को छू भी न सकीं।

यद्यपि मैं विगत छह वर्षों से देश-विदेश में निरन्तर भ्रमण करता रहा हूँ, तथापि मैं जहाँ भी गया, वहाँ मेरे पहले क्रमबद्धपर्याय पहुँच चुकी थी। इसवर्ष मैं जापान में पहली बार ही गया था, पर जाते ही मुझसे क्रमबद्धपर्याय पर प्रवचन करने का आग्रह किया गया, तथापि मैंने तीन दिन तक क्रमबद्धपर्याय पर प्रवचन नहीं किये । एक प्रवचन 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' तथा चार प्रवचन 'भगवान आत्मा और उसकी प्राप्ति के उपायो' पर किये, जो बहुत सराहे गये; पर क्रमबद्धपर्याय की माँग निरन्तर बनी ही रही ।

अन्त में उन्होंने जब मेरे से यह कहा कि हमने तो आपको क्रमबद्धपर्याय पर सुनने के लिए ही बुलाया है, तो मेरे आश्चर्य और आनन्द का पार

नहीं रहा । उसके बाद एक-एक घण्टे के सात प्रवचन क्रमबद्धपर्याय पर हुए, जिन्होंने वहाँ धूम मचा दी । प्रवचनों के अतिरिक्त प्रतिदिन लगभग ४-४ घण्टे तक क्रमबद्धपर्याय पर चर्चा भी चलती रही । प्रातः और सायं तो प्रतिदिन दो-दो घण्टे प्रवचन और चर्चा होती ही थी, दोपहर में भी लोग अपना काम छोड़कर चर्चा के लिए आते रहे ।

कहीं से कोई विरोध का स्वर दिखाई नहीं दिया, सर्वत्र सरल जिज्ञासा के ही दर्शन हुए ।

क्रमबद्धपर्याय की चर्चा ने सभी को आन्दोलित कर दिया । लोगों में अभूतपूर्व जागृति आई, तीव्र जिज्ञासा जागृत हुई, नित्य स्वाध्याय करने की प्रेरणा मिली।

इसीप्रकार टोरंटो में होने वाले जैना (जैन एसोसिएशन इन नार्थ अमेरिका) के सम्मेलन में जब पहलीबार ही हमें बन्धुत्रिपुटी मिले और सुशील मुनिजी ने हमारा उनसे परिचय कराया तो वे छूटते ही बोले –

"हम तो इन्हें क्रमबद्धपर्याय के नाम से ही जानते हैं ।"

मेरी ओर मुड़ते हुए उन्होंने कहा –

"हमने आपकी क्रमबद्धपर्याय पढ़ी है, बहुत ही अच्छी पुस्तक है । आपका नाम तो बहुत सुना था, पुस्तकें भी पढ़ी हैं, वीडिओ एवं ओडिओ कैसेट भी देखे हैं, सुने हैं; पर साक्षात् मिलना अब हो रहा है, आपको साक्षात् सुनने की भावना थी, सो अब पूरी होगी ।

सबसे बड़ी प्रसन्नता की बात तो यह है कि आप मात्र शुद्धात्मा की ही बात करते हैं, विशुद्ध अध्यात्म की ही चर्चा करते हैं ।

अमेरिका में हम जहाँ-जहाँ भी गये, सर्वत्र आपकी बहुत प्रशंसा सुनी है। हमने एक भाई से आपके सभी कैसेट तैयार कराये हैं, जिन्हें हम भारत में अपने आश्रम में रखेंगे, अपने साधकों को सुनायेंगे । हमारा आश्रम गुजरात में बलसाड़ के निकट समुद्र के किनारे है, बहुत अच्छा स्थान है ।"

उन्होंने अपने आश्रम का एलबम दिखाते हुए कहा –

"बहुत ही शान्त एकान्त है, आप कभी आराम करने की आवश्यकता समझें तो पधारिये, आपको सब व्यवस्था उपलब्ध होगी, आपको पूरा आराम मिलेगा, हमें व हमारे साधकों को आपके समागम का लाभ भी प्राप्त होगा।"

शिविर लगाने का आमंत्रण देते हुए कहा –

"आप अपना एक शिविर हमारे आश्रम में भी लगाइये । हमारे यहाँ २०० व्यक्तियों के रहने-ठहरने आदि की सुन्दर व्यवस्था है । हम सब भी लाभ लेंगे ।

भारतीय विद्या भवन, बम्बई में होंनेवाले आपके व्याख्यानों के कैसेट भी हमारे पास हैं ।"

उन्होंने यह भी कहा कि हमने अमेरिका में सभी जगह आपके व्याख्यान सुनने की प्रेरणा दी है ।

बन्धुत्रिपुटी मूर्तिपूजक श्वेताम्बर समाज के प्रसिद्ध प्रवक्ता साधु हैं, जिनके प्रवचनों की धूम देश-विदेश में है । वे तीन भाई हैं, तीनों साधु हैं; साथ ही रहते हैं और बन्धुत्रिपुटी नाम से जाने जाते हैं । श्वेताम्बर समाज में विगत अनेक वर्षों से बम्बई में उनके व्याख्यानों की धूम रहती थी ।

इसवर्ष वे विदेश गये हैं, अमेरिका में भी उनके व्याख्यानों की बड़ी ही लोकप्रियता है । विदेशों में श्वेताम्बर समाज अधिक होने से उनकी पकड़ भी अच्छी है । तीनों ही भाई उदार विचारों के हैं और सबको साथ ले चलने की भावना रखते हैं ।

उनका स्पष्ट कहना था कि हम और आप सभी धर्मप्रचारक हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं है । सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता, सम्यग्दर्शन आत्मानुभूति बिना नहीं होता । अतः आत्मानुभूति के बिना धर्म का आरंभ नहीं होता – आपकी यह बात शत-प्रतिशत सत्य है । इस बात का प्रचार होना चाहिए ।

हमें तो इस बात का आश्चर्य है कि गृहस्थ होते हुए भी आप इतना प्रचार कर रहे हैं, इतना समय धर्मप्रचार में लगा रहे हैं । यह सब आप कैसे कर लेते हैं ?"

हमें आशंका थी कि यदि बंधुत्रिपुटी संकीर्ण विचारों के हुए तो अमेरिका में जिन-अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में बाधा खड़ी हो सकती है, पर हमारी आशंका निर्मूल सिद्ध हुई – हमें इस बात की प्रसन्नता है ।

इसीप्रकार रोचेस्टर में भी डॉ. महेन्द्र दोशी एवं उनके साथियों को क्रमबद्धपर्याय की इतनी रुचि जागृत हो गई है कि उन्होंने क्रमबद्धपर्याय को अपने साप्ताहिक सामूहिक स्वाध्याय में लगा रखा है । पुस्तकें अनुपलब्ध होने से गुजराती क्रमबद्धपर्याय की सम्पूर्ण पुस्तक की १० फोटो कॉपियाँ तैयार करा ली गई हैं और विधिवत सामूहिक स्वाध्याय चल रहा है ।

डॉ. महेन्द्र दोशी ने स्वयं गहरा अध्ययन करके अंग्रेजी भाषा में क्रमबद्धपर्याय पर ५-७ पेज का एक लेख तैयार किया है, जिसकी दो सौ कॉपियाँ तैयार कराके सम्पूर्ण अमेरिका के प्रमुख लोगों को भेजी हैं । पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशनार्थ भेजा है । रोचेस्टर जैन सेन्टर के सभी सदस्यों को उक्त लेख की कॉपी भेजकर अनुरोध किया गया था कि इस विषय पर डॉ. भारिल्ल का व्याख्यान होगा, चर्चा होगी; अतः आप इसे गहराई से पढ़कर व्याख्यान सुनने पधारें ।

क्रमबद्धपर्याय के सन्दर्भ में और भी अनेक स्थानों पर इसीप्रकार का वातावरण है, जिसकी चर्चा आगे यथास्थान होगी ही ।

क्रमबद्धपर्याय की हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी की कुल मिलाकर तीन हजार प्रतियाँ विदेशों में पहुँच चुकी हैं, फिर भी माँग बनी हुई है ।

इसप्रकार इसबार की विदेश यात्रा में लगभग सर्वत्र ही क्रमबद्धपर्याय की ही धूम रही, निरन्तर उसी का ही वातावरण बना रहा ।

इसवर्ष की हमारी इस विदेश यात्रा में अमेरिका, कनाडा, और इंगलैण्ड के अतिरिक्त तीन देश नये जुड़ गये थे :— हांग-कांग (चीन), जापान एवं जर्मनी ।

जून, १९८९ ई. को आरंभ होने वाली यह ५६ दिवसीय विदेश यात्रा हांग-कांग से आरंभ हुई । समुद्र के किनारे सुरम्य पहाड़ी की तलहटी में बसे एक करोड़ की जनसंख्या वाले इस औद्योगिक नगर हांगकांग में हम २ जून, १९८९ ई. को पहुँचे, जहाँ मधुकरभाई सी. शाह के घर पर ठहरे । २ जून की रात को चर्चा उनके घर पर ही रखी गई थी, जो लगभग दो घण्टे तक चली और बहुत अच्छी रही। ३ जून, १९८९ ई. शनिवार के दिन शाम को आठ बजे से हिन्दू मन्दिर के हॉल में "भगवान महावीर और उनकी अहिंसा" विषय पर प्रवचन हुआ, तदनन्तर एक घण्टे तक प्रश्नोत्तर हुए । इसमें १00 से अधिक लोग उपस्थित थे । यह संख्या वहाँ की दृष्टि से आशा से अधिक थी, क्योंकि वहाँ पर जैनियों के २५-२६ घर ही हैं ।

दूसरे दिन रविवार को प्रातः ९.३0 पर मधुकरभाई के घर पर कार्यक्रम रखा गया था, जिसमें भगवान आत्मा के स्वरूप पर प्रवचन हुआ, तदुपरान्त लगभग डेढ़ घण्टे तक चर्चा चली । रविवार की शाम तथा सोमवार को प्रातः भी उन्हीं के घर पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये थे ।

यहाँ इसी वर्ष जैन सेन्टर की स्थापना हुई है । जैन सेन्टर के अध्यक्ष हैं श्री विराटभाई एवं मंत्री हैं श्री राजेन्द्र जैन ।

सोमवार की शाम विराटभाई के घर एवं मंगलवार को मनहरभाई के घर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये । शेष कार्यक्रम मधुकरभाई के घर पर ही सम्पन्न हुये ।

इसप्रकार यहाँ ५ दिन के कार्यक्रम में आठ प्रवचन और इतने ही घण्टों की चर्चा — इसप्रकार १६ घण्टे के कार्यक्रम सम्पन्न हुए ।

मधुकरभाई शाह बम्बई वाले शान्तिभाई जवेरी के छोटे भाई हैं । उनकी आध्यात्मिक रुचि बहुत अच्छी है, तात्विक अभ्यास भी अच्छा है । उन्होंने "जिनवरस्य नयचक्रम्" जैसे कठिन ग्रन्थ का स्वाध्याय चार बार आद्योपान्त कर लिया है । कहीं भी आते-जाते, घूमते-फिरते समय वे नयचक्र संबंधी चर्चा ही करते रहे । उनकी पत्नी, पुत्र, पुत्रवधु सभी आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न हैं, सभी ने अत्यन्त रुचिपूर्वक लाभ लिया । आगामी वर्ष आने का भी बहुत-बहुत अनुरोध किया ।

इसप्रकार हांग-कांग में सबकुछ मिलाकर बहुत अच्छी धर्म-प्रभावना हुई।

जिस समय हम हांग-कांग में थे, उस समय चीन में छात्र आन्दोलन बड़े जोरों पर था और उसे नृसंशतापूर्वक कुचला जा रहा था । इसकारण हांग-कांग का भी वातावरण बहुत क्षुब्ध था; क्योंकि वहाँ के पंचानवे प्रतिशत नागरिक चीनी ही हैं । चीनी छात्र आन्दोलन के समर्थन एवं उनके दमनचक्र के विरोध में हांग-कांग में जुलूस निकाले जा रहे थे । सर्वत्र ही भय का वातावरण व्याप्त था; क्योंकि सन् १९९७ ई. में हांग-कांग भी चीन को हस्तान्तरित किया जाने वाला है । इसकारण सम्पन्न नागरिकों में विशेष अस्थिरता का वातावरण था ।

हांग-कांग से चलकर ७ जून, १९८९ ई. बुधवार को जापान के उसाका हवाई अड्डे पर पहुँचे, जहाँ से कार से कोबे नगर में गये । कोबे में हम जयन्तीभाई एच. शाह के घर पर ठहरे थे । जयन्तीभाई की तीव्र भावना के कारण ही जापान का कार्यक्रम बना था । क्रमबद्धपर्याय पर सुनने की इच्छा भी उनकी ही सर्वाधिक थी; उन्होंने प्रवचनों और चर्चा का भरपूर लाभ भी लिया । उनके सुपुत्र शैलेन्द्रभाई को क्रमबद्धपर्याय ने इतना अधिक आन्दोलित किया कि वे दो-तीन रात ढंग से सोये भी नहीं; इसी के विचार-मंथन में लगे रहे ।

अभी-अभी दशलक्षण महापर्व के अवसर पर बम्बई (मलाड़) में हमारा प्रवचन सुनने जयन्तीभाई आये थे तो बता रहे थे कि शैलेन्द्र तो आपकी

क्रमबद्धपर्याय का भक्त हो गया है, उसपर इसका कुछ अधिक ही असर हो गया है ।

मैंने कहा – "चिन्ता न करें, समय पाकर सबकुछ सन्तुलित हो जावेगा।"

इसपर वे बोले – "चिन्ता की क्या बात है ? जो कुछ हुआ है, अच्छा ही हुआ है, अच्छे के लिए ही हुआ है ।"

जयन्तीभाई हांग-कांग वाले मधुकरभाई के साले हैं । हीरे के बहुत बड़े व्यापारी हैं और धार्मिकवृत्ति के सज्जन पुरुष हैं । उन्हीं के पार्टनर महेशभाई दोशी हैं, जो बसंतभाई दोशी, बम्बईवालों के चचेरे भाई हैं । जापान में एकमात्र दिगम्बर जैन वे ही हैं, शेष सब मूर्तिपूजक श्वेताम्बरभाई ही हैं । महेशभाई अध्यात्मरुचि सम्पन्न मुमुक्षु भाई हैं ।

यहाँ दो-तीन वर्ष पूर्व ही एक जैन मन्दिर का निर्माण हुआ है । यह मन्दिर पूर्णतः भारतीय स्थापत्य कला के अनुसार ही बना है । एकदम भारतीय जैन मन्दिर जैसा ही लगता है । इसके आसपास ही लगभग ३० जैन परिवार रहते हैं, जिनकी सदस्यों की कुल संख्या १८५ है । इन लोगों के अधिकतर मोतियों का व्यापार है, क्योंकि जापान का कोवे नगर मोतियों के व्यापार की मंडी है ।

मन्दिर के पास में ही एक इण्डियन क्लब है, जिसकी व्यवस्था भी लगभग इन लोगों के ही हाथ में है । इसमें एक विशाल हाल है, जिसमें हजारों लोग एकसाथ बैठ सकते हैं । हमारे प्रवचनों का कार्यक्रम भी इसी इण्डियन क्लब के हाल में रखा गया था । कुछ कार्यक्रम मन्दिरजी के हाल में भी रखे गए थे ।

यहाँ ६ दिन में ११ प्रवचन हुये । प्रातः ९.३० से ११.३० तक और सायं ८.३० से १0.३० तक कार्यक्रम चलते थे । दोपहर में डेढ़ घंटे चर्चा जयन्तीभाई के घर ही चलती थी । प्रवचनों में १२५ के लगभग

संख्या रहती थी, शनिवार और रविवार को संख्या बढ़ गई थी, क्योंकि उन दिनों अजैन भाई भी बहुत आ गये थे ।

भारतीय दूतावास के असिस्टेन्ट राजदूत ने सपरिवार प्रत्येक प्रवचन का पूरा-पूरा लाभ लिया । वे प्रतिदिन प्रवचन सुनने के बाद प्रसन्नता व्यक्त करते थे, चर्चा भी करते थे । राजदूत भी एक दिन सपरिवार पधारे थे । प्रवचन के बाद वे हमसे बहुत देर तक चर्चा करते रहे । दोनों ही राजदूत पंजाबी परिवारों से थे, पर अध्यात्म के रसिक थे ।

प्रवचनों की विषयवस्तु के संबंध में चर्चा की ही जा चुकी है । प्रत्येक दिन का कार्यक्रम शुद्धात्मशतक के पाठ से आरंभ होता था । यद्यपि सभी के हाथों में पुस्तकें होती थीं, तथापि पाठ कैसेट से चलता था और सभी लोग साथ में बोलते थे ।

शुद्धात्मशतक, कुन्दकुन्दशतक, समयसार पद्यानुवाद, बारह भावना एवं जिनेन्द्रवंदना के जो भी कैसेट हमारे पास थे, सभी ने उनकी कॉपियाँ कर ली हैं, जिनका उपयोग वे सब निरन्तर करेंगे ।

सबसे बड़ी प्रसन्नता की बात तो यह है कि यहाँ के जैन परिवारों में धार्मिक संस्कार शेष हैं, अन्यत्र जैसा काल का दुष्प्रभाव यहाँ देखने में नहीं आया। युवकों में भी धार्मिक संस्कार हैं, तत्त्वज्ञान समझने की जिज्ञासा है। सदाचार तो पूरी तरह कायम है ही, सामाजिक एकता भी अच्छी है ।

दो परिवार मारवाड़ी भी हैं, एक तो हैं नेमीचन्दजी खजांची और दूसरे शिखरचन्दजी हैं, जो चौधरी साहब के नाम से जाने जाते हैं ।

यह तो सर्वविदित ही है कि द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान अणुबम का शिकार बना था, हिरोशिमा और नागासागी बम वर्षा से बर्बाद हो गये थे। आधुनिक शस्त्र कितने विनाशकारी हैं, इसका अत्यल्प प्रयोग भी कितना खतरनाक हो सकता है ? — यह अपनी आँख से देखने के लिए हम एक दिन हिरोशिमा भी गये थे ।

नेमीचन्दजी खजांची के जमाई श्री राजेन्द्रकुमारजी हमारे साथ हिरोशिमा गये थे । वे धार्मिकवृत्ति के युवक हैं, रास्ते भर धार्मिक चर्चा ही करते रहे।

द्वितीय विश्वयुद्ध में पूरी तरह विनष्ट हिरोशिमा आज जापानियों के पुरुषार्थ का प्रतीक बन गया है । अत्यल्पकाल में हिरोशिमा का जिसप्रकार पुनर्निर्माण किया गया है, उससे यह प्रतीत ही नहीं होता कि पहले कभी यहाँ प्रलय उपस्थित हुआ था । आज वह एकदम आधुनिक नगर के रूप में विकसित हो गया है ।

विनाश की याद को ताजा रखने के लिए बम विस्फोट के दुष्प्रभावों को चित्रित करनेवाली एक सुसज्जित प्रभावक प्रदर्शिनी यहाँ रखी गई है, जिसे देखकर कठोर से कठोर हृदय भी द्रवित हुए बिना नहीं रहता ।

इस प्रदर्शिनी में एक सुन्दरतम व्यवस्था यह है कि वहाँ प्रदर्शिनी देखने आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को उसकी ही भाषा में प्रदर्शिनी के स्वरूप को समझाने वाला कैसेट टेपरिकार्डर सहित प्राप्त हो जाता है, जिसमें इयरफोन भी होता है । इसप्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा में प्रदर्शिनी के बारे में सुनता जाता है और प्रदर्शिनी को चुपचाप देखता जाता है, न कोई शोरगुल होता है और न कोई गाईड की आवश्यकता रहती है । हजारों की भीड़ में एकदम शान्ति बनी रहती है ।

उक्त कैसेट में बड़े ही प्रभावक ढंग से समस्त जानकारी टेप की गई है, उसके सुनने से प्रदर्शिनी सम्बन्धी जानकारी तो प्राप्त होती ही है, अणुबम के खतरों का भी परिचय प्राप्त होता है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा की महिमा आती है और निशस्त्रीकरण का वातावरण बनता है ।

एक विशाल इमारत वैसी की वैसी सुरक्षित रखी गई है, जैसी कि अणुबम के दुष्प्रभाव से वह खंडित हो गई थी । उसे देखकर अनुमान लगाया जा

सकता है कि सम्पूर्ण नगर की कैसी दुर्दशा हुई होगी ? अनेक चित्रों में उन लोगों की दुर्दशा का चित्रण है, जो लोग अणुबम के शिकार हुए थे।

सबकुछ मिलाकर उसे देखकर लौटने वाले व्यक्ति के मन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उसमें एक ओर इस पाशविकता के प्रति गहन अवसाद होता है तो दूसरी ओर इस महान संकट से गुजरने के बाद भी जिस तेजी से विकास हुआ है, उसे देखकर जापानियों के पुरुषार्थ के प्रति हृदय श्रद्धा से भर उठता है ।

गोरे-भूरे, दुबले-पतले, नाटे कद के जापानी लोग बड़े ही परिश्रमी होते हैं । जापान की समृद्धि का कारण उनका परिश्रमी होना तो है ही; साथ ही हथियारों पर कुछ भी खर्च न होना भी एक सशक्त कारण है । द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुई संधि के कारण वे हथियारों के विकास के लिए प्रतिबंधित हैं, उनकी सुरक्षा की संपूर्ण जिम्मेदारी अमेरिका की है । – यह अभिशाप उनकी आर्थिक समृद्धि के लिए वरदान साबित हुआ है ।

निरन्तर प्रगतिशील औद्योगिक विकास के कारण आज जापान विश्व-व्यापार के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावी सिद्ध हो रहा है ।

आज जापान दुनिया का सबसे महंगा देश है । किसी बड़े होटल में एक कप चाय पीने में आपके साठ रुपये खर्च हो जायेंगे । इसकारण यहाँ पर्यटक बहुत कम आते हैं । विश्व भ्रमण के जितने भी पर्यटन ट्यूर बनते हैं, उनमें लगभग जापान को शामिल नहीं किया जाता है । परिणामस्वरूप दुनिया के पर्यटक हिरोशिमा और नागासागी के उन पर्यटन स्थलों को देखने से वंचित रह जाते हैं, जिनके देखने से आधुनिक विनाशकारी शस्त्रों के विरुद्ध जनमत बनता है, अहिंसा और शान्ति के पक्ष में वातावरण बनता है।

जापान की महंगाई का कारण यह है कि वह विश्व-व्यापार में अपना स्थान बनाये रखने के लिए बाहर तो वस्तुएँ सस्ती भेजता है, पर अपने

देश में उन पर अधिक से अधिक टैक्स लगाकर महंगी रखता है । जापान की बनी वस्तु जापान में महंगी मिलेगी और अमेरिका आदि में सस्ती ।

जो कुछ भी हो, सबकुछ मिलाकर जापान ने ऐसी नीतियों का निर्धारण किया है कि जिससे उसने बर्बादी के बावजूद भी आज विश्व में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है ।

जापान से १३ जून, १९८९ ई. के शाम को ६ बजे चलकर १३ जून, १९८९ के ही प्रातः ११ बजे सान्फ्रांसिस्को (उत्तरी केलीफोर्निया-अमेरिका) पहुँचे ।

आपको यह जानकर आश्चर्य हो रहा होगा कि ऐसा कैसे हो सकता है, १३ जून के शाम को चलकर १३ जून के प्रातः कैसे पहुँचा जा सकता है ? पर वस्तुतः बात यह है कि जापान में सबसे पहले सूरज उगता है और वही सूर्य पश्चिमी अमेरिका में जापान के १८ घण्टे बाद उगता है; इसकारण जापान से अमेरिका एक दिन पीछे है । तात्पर्य यह है कि जब हम जापान से चले, तब जापान में १३ जून थी और उस समय अमेरिका में १२ जून ही थी । इसकारण हम जापान की १३ जून के शाम को जापान से चलकर अमेरिका की १३ जून के प्रातः अमेरिका पहुँच गये ।

सान्फ्रांसिस्को में हम हिम्मतभाई डगली के घर ठहरे । उस दिन रात को चर्चा का कार्यक्रम उन्हीं के घर पर रखा गया था । उनके ही घर पर १४ जून को कुन्दकुन्द शतक के पाठ के उपरान्त कुन्दकुन्द शतक की ही ४६ से ५२ तक की गाथाओं पर मार्मिक प्रवचन हुआ । तदुपरान्त एक घण्टे तक तत्त्वचर्चा चली । १५ जून, १९८९ को सानहुजो में नवीन दोधिया के घर पर क्रमबद्धपर्याय पर प्रवचन व चर्चा हुई ।

१६ जून को वाशिंगटन पहुँचे, जहाँ प्रतिवर्ष की भाँति १७ जून से २० जून तक सेन्टमेरी कॉलेज में शिविर आयोजित था, जो अत्यन्त सफल रहा। इस शिविर में लाभ लेने के लिए वाशिंगटन डी. सी. के लोगों के

अतिरिक्त न्यूयार्क के डॉ. धीरूभाई भी आये थे । एलनटाउन से ४ घण्टे की ड्राइव करके कुलीनभाई आये थे । वे गहरी आध्यात्मिक रुचि के मुमुक्षु भाई हैं ।

शिविर के आरंभ में तीन प्रवचन सम्यग्दर्शन के स्वरूप एवं प्राप्ति के उपाय पर हुए । उसके बाद समयसार की १४४वीं गाथा पर चार प्रवचन हुए इसके बाद चौदह गुणस्थान, चार अभाव, सात तत्त्व और सात तत्त्वों संबंधी भूलों पर प्रवचन चले ।

४५-४५ मिनट के दो प्रवचन प्रातः एवं दो प्रवचन दोपहर को चलते थे । विषय से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर भी प्रत्येक प्रवचन के बाद चलते थे। रात को एक घण्टे की चर्चा विविध विषयों पर चलती थी । इसप्रकार प्रतिदिन लगभग ५ घण्टे का कार्यक्रम प्रवचन व चर्चा का चलता था । इसके अतिरिक्त जिनेन्द्रवंदना, बारह्भावना, कुन्दकुन्दशतक एवं शुद्धात्मशतक का पाठ भी चलता था ।

यहाँ (वाशिंगटन में) भी मन्दिर के लिए चार एकड़ जमीन खरीद ली गई है, जिसमें तीन हजार फुट का बना हुआ एरिया भी है । उसमें आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन का कार्य चालू था । भगवान बिराजमान करने का कार्यक्रम १९ अगस्त, १९८९ ई. निश्चित किया गया था, जो यथासमय सम्पन्न हो गया होगा ।

उसमें तीन मूर्तियाँ रखने का निश्चय हो गया था, जो जयपुर में तैयार हो रही थीं । उनमें बीच की मूर्ति ३३ इंच की थी एवं अगल-बगल की मूर्तियाँ २७ इंच की । एक मूर्ति पूर्णतः दिगम्बर रहेगी, शेष दो मूर्तियों में चक्षु आदि लगाए जाने वाले थे ।

वाशिंगटन से चलकर २१ जून की रात को फिनिक्स पहुँचे, जहाँ एक दिन किशोरभाई पारेख एवं एक दिन डॉ. दिलीप वोवरा के घर पर ठहरे। दोनों दिन दो विभिन्न सुदूरवर्ती स्थानों पर सार्वजनिक हालों में प्रवचन रखे

गये। दोनों ही दिन शुद्धात्मशतक के पाठ के उपरान्त एक-एक घण्टे के प्रवचन तथा एक-एक घण्टे की चर्चा रखी गई । प्रवचन समयसार की १४४वीं गाथा पर चले, क्योंकि लोगों की भावना ऐसी ही थी ।

यहाँ प्रवचनों का लाभ लेने के लिए तुसान से १५० मील चलकर रमेशभाई खण्डार सपरिवार आये थे । उनके विशेष अनुरोध पर डॉ. दिलीप वोवरा के घर अनेक व्यक्तियों की उपस्थिति में रात को एक बजे तक क्रमबद्धपर्याय पर चर्चा चलती रही । इसके पूर्व प्रातः महेन्द्रभाई एवं संध्याबेन के घर पर एवं दोपहर को किशोरभाई एवं जयश्री बैन पारेख के घर पर चर्चा रखी गई थी, जिसमें अधिकांश महिलाएँ ही उपस्थित थीं । उन्होंने अनेक प्रश्न किए, पर अधिकांश प्रश्न क्रमबद्धपर्याय सम्बन्धी ही थे । सभी के समुचित समाधान पाकर सबको प्रसन्नता हुई ।

फिनिक्स से चलकर हम २४ जुलाई, १९८९ ई. शनिवार को लासएंजिल्स पहुँचे, जहाँ नवनिर्मित जैनमन्दिर के विशाल हाल में शाम को ७ बजे प्रवचन आयोजित था । प्रवचन सुनने आनेवालों के लिए सामूहिक भोजन की व्यवस्था भी की गई थी । लगभग पाँच सौ से अधिक लोगों की उपस्थिति में 'सम्यग्दर्शन' विषय पर हुए प्रवचन ने सभी लोगों को बहुत प्रभावित किया ।

सभी के अनुरोध पर तत्काल घोषणा की गई कि इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए कल रविवार को प्रातः १० से १२ बजे तक एवं सायं ७.३० से ९.३० तक इसी हाल में प्रवचन व चर्चा होगी । अतः दूसरे दिन भी लोगों ने भरपूर लाभ लिया । इस हाल में सोमवार और मंगलवार की शाम को भी ८ से १० बजे तक कार्यक्रम रखे गये थे । इसप्रकार चार दिन में पाँच घण्टे के पाँच प्रवचन एवं पाँच घण्टे ही तत्त्वचर्चा के कार्यक्रम हुए; इसकारण गहरी तत्त्वचर्चा के भी अवसर आये । सबकुछ मिलाकर सभी कार्यक्रम बहुत ही सफल रहे ।

लासएंजिल्स से रोचेस्टर गये, जहाँ प्रथम दिन २८ जून, १९८९ ई. को एक भाई के घर पर व्याख्यान रखा गया था, दूसरे दिन इण्डियन कम्यूनिटी

सेन्टर के हाल में एवं तीसरे दिन किशोरभाई शेठ के घर पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये । प्रवचनों का मूल विषय क्रमबद्धपर्याय ही था। चर्चा भी इसी विषय पर चली । रोचेस्टर में चल रही क्रमबद्धपर्याय संबंधी क्रान्ति की चर्चा पहले की ही जा चुकी है । यहाँ का वातावरण अभी पूर्णतः क्रमबद्धपर्यायमय है ।

यहाँ के जैन सेन्टर के अध्यक्ष डॉ. महेन्द्र दोशी हैं और मंत्री हैं दीपक मणिहार । यहाँ से दीपक मणिहार हमें कार द्वारा टोरंटो ले गये । रास्ते भर क्रमबद्धपर्याय की ही चर्चा करते रहे ।

सर्वत्र ही लोगों में क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में भारी उत्सुकता है । सबकुछ मिलाकर निष्कर्ष यह है कि अमेरिका में क्रमबद्धपर्याय के सन्दर्भ में भारी मंथन चल रहा है । लोगों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ी है और वे लोग गहराई से आध्यात्मिक अध्ययन कर रहे हैं ।

क्रमबद्धपर्याय के सन्दर्भ में कहाँ क्या कहा — यह लिखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय पर तो पूरी पुस्तक ही लिखी गई है, जो छह भाषाओं में सभी को उपलब्ध है ।

सम्पूर्ण भारतवर्ष में विगत दो वर्षों से आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह बड़े ही उत्साह से मनाया जा रहा है । इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमने गत वर्ष की विदेशयात्रा में लगभग सर्वत्र ही कुन्दकुन्द शतक की गाथाओं पर प्रवचन किये थे और इस वर्ष शुद्धात्मशतक की गाथाओं को प्रवचन का आधार बनाया था ।

शुद्धात्मशतक में आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों की शुद्धात्मा सम्बन्धी १०१ गाथाएँ संकलित हैं । इस वर्ष के प्रवचनों में शुद्धात्मशतक की जिन प्रारंभिक गाथाओं को मूल आधार बनाया गया था, वे मूलतः इसप्रकार है—

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥१॥
परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिण-उवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स ॥२॥
परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई होई ।
इय णाऊण सद्दव्वे कुणह रई विरह इयरम्मि ॥३॥

इन गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है :—

परद्रव्य को परित्याग पाया ज्ञानमय निज आतमा ।
शतबार उनको हो नमन निष्कर्म जो परमातमा ॥१॥
परद्रव्य में रत बंधे और विरक्त शिवरमणी वरे ।
जिनदेव का उपदेश बंध-अबंध का संक्षेप में ॥२॥
परद्रव्य से हो दुर्गती निजद्रव्य से होती सुगति ।
यह जानकर रति करो निज में अर करो पर से विरति ॥३॥

ये गाथाएँ मूलतः मोक्षपाहुड की हैं । भेदविज्ञान मूलक इन गाथाओं में सम्पूर्ण जगत को स्वद्रव्य और परद्रव्य के रूप में विभाजित किया गया है। ज्ञानमय निज भगवान आत्मा को स्वद्रव्य और उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत को परद्रव्य कहा गया है । यह भी स्पष्ट किया गया है कि परद्रव्यों का परित्याग एवं ज्ञानमय निज भगवान आत्मा की आराधना करके ही परमात्मा बना जा सकता है । आज तक जो भी आत्मा परमात्मा बने हैं, वे सभी इसी विधि से बने हैं और भविष्य में भी जो परमात्मा बनेंगे, वे भी इसी विधि से बनेंगे ।

बंध और मोक्ष के संबंध में जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का सार बताते हुए कहा गया है कि परद्रव्य में रत (लीन) आत्मा ही बंध को प्राप्त होते हैं और परद्रव्यों से विरत (विरक्त) आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

अन्त में कहा गया है कि अधिक क्या कहें, मात्र इतना ही समझलो कि परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति

की प्राप्ति होती है । अतः हे भव्यजीवो ! परद्रव्यों से विरक्त होकर निज द्रव्य में रति करो ।

प्रश्न – गत वर्ष कुन्दकुन्द शतक की गाथाओं पर प्रवचन करते हुए आपने यह समझाया था कि एक द्रव्य दूसरे के सुख-दुःख और जीवन-मरण का उत्तरदायी नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आत्मा स्वोपार्जित कर्मों के उदय के निमित्त से अपनी योग्यतानुसार ही सुखी-दुःखी होते हैं और जीवन-मरण को प्राप्त होते हैं । अब यह बता रहे हैं कि परद्रव्य से दुर्गति और स्वद्रव्य से सुगति होती है। जब परद्रव्य हमारे दुःख-सुख और जीवन-मरण का उत्तरदायी नहीं है तो वह हमारी दुर्गति का कारण भी कैसे हो सकता है?

उत्तर – भाई, 'परद्रव्य से हो दुर्गति' का आशय यह नहीं है कि परद्रव्य हमारी दुर्गति करता है; अपितु यह है कि जो आत्मा निज द्रव्यरूप त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा से भिन्न किसी भी पर पदार्थ में अपनापन स्थापित करता है, उसे ही निज जानता है, निज मानता है और उसी में रत रहता है; वह दुर्गति को प्राप्त होता, अनन्त दुःखी होता है, चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटकता है । पर और पर्याय से भिन्न स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करने से, उसे ही निज जानने-मानने से; उसमें ही लीन रहने से सुगति की प्राप्ति होती है, पंचम गति की प्राप्ति होती है, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है । सुखी होना ही सुगति है और दुःखी होना ही दुर्गति है । निज भगवान आत्मा के आश्रय से जीव सुखी होते हैं और निज भगवान आत्मा से भिन्न परपदार्थों के आश्रय से जीव दुःखी होते हैं; इसीलिए कहा जाता है कि स्वद्रव्य से सुगति और परद्रव्य से दुर्गति होती है ।

'निज भगवान आत्मा के आश्रय से' – इसमें आश्रय का आशय निज भगवान आत्मा को निज जानना, निज मानना और निज में ही जमना रमना है । इसीप्रकार 'परद्रव्य के आश्रय' में आश्रय का आशय पर को निज जानने मानने और उसी में जमने रमने से हैं ।

अपने में अपनापन ही धर्म है और पर में अपनापन ही अधर्म है; इसलिए ज्ञानी धर्मात्मा निरन्तर इसप्रकार की भावना भाते रहते हैं कि –

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥

मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥

धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है धर्म निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥[१]

धर्मादि परद्रव्यों एवं मोहादि विकारी भावों में से अपनापन छोड़कर उपयोगस्वरूपी शुद्ध निज भगवान आत्मा में अपनेपन की दृढ़ भावना ही धर्म है, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का मार्ग है; अतः निज भगवान आत्मा को जानने पहिचानने का यत्न करना चाहिए और निज भगवान आत्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

प्रश्न – हम तो बहुत प्रयत्न करते हैं, पर वह भगवान आत्मा हमें प्राप्त क्यों नहीं होता ?

उत्तर – भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना प्रयत्न करना चाहिए, यदि वैसा और उतना प्रयत्न करें तो भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य ही होती है । सच्ची बात तो यह है कि भगवान आत्मा की प्राप्ति की जैसी तड़फ पैदा होनी चाहिए, अभी हमें वैसी तड़फ ही पैदा नहीं हुई है । यदि अन्तर की गहराई से वैसी तड़फ पैदा हो जावे तो फिर भगवान आत्मा की प्राप्ति में देर ही न लगे ।

भगवान आत्मा की प्राप्ति की तड़फ वाले व्यक्ति की स्थिति कैसी होती है ?– इसे हम उस बालक के उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते

---

१. शुद्धात्मशतक गाथा ३९-४१.

हैं कि जिसकी माँ मेले में खो गई हो । एक पाँच वर्ष का बालक माँ के साथ मेला देखने गया था । मेले की अपार भीड़ में वे दोनों बिछुड़ गये । एक पुलिस चौकी पर माँ पहुँची और उसने बेटा खोने की रिपोर्ट लिखाई; दूसरी पुलिस चौकी पर बेटा पहुँचा और उसने माँ के खोने की रिपोर्ट लिखाना चाही। पर उसकी रिपोर्ट को सही रूप में कोई लिखता ही नहीं है ।

इन्सपेक्टर ने कॉंस्टेबल से पूछा – "कौन है ?"

कॉंस्टेबल ने उत्तर दिया – "एक खोया हुआ बालक आया है ।"

बालक ने बीच में ही टोकते हुए कहा – "इन्सपेक्टर साहब मैं नहीं, मेरी माँ खोई है; मैं तो आपके सामने ही खड़ा हूँ ।"

डपटते हुए कॉंस्टेबल बोला – "चुप रह, कहीं माँ भी खोती है ? खोते तो बच्चे ही हैं ।"

आखिर उन्होंने यही रिपोर्ट लिखी कि एक खोया हुआ बालक आया है। जो भी हो अब बालक से पूछताछ आरम्भ होती है ।

"क्यों भाई, तुम्हारा नाम क्या है ?"

"पप्पू"

"तुम्हारी माँ का क्या नाम है ?"

"मम्मी"

"तुम कहाँ रहते हो ?"

"अपने घर में"

बालक के ऐसे उत्तर सुनकर पुलिसवाले आपस में कहते हैं कि जब यह बालक अपनी माँ को पहिचानता ही नहीं है, उसका नाम तक भी नहीं जानता है तो इसकी माँ को कैसे खोजा जाय ?

उनकी बातें सुनकर बालक सोचता है कि जिस नाम से मैं माँ को रोजाना बुलाता हूँ, क्या वह नाम ही नहीं है ? मम्मी कहकर जब भी बुलाता हूँ, माँ हाजिर हो जाती है; फिर भी ये लोग कहते हैं कि मैं माँ का नाम भी नहीं जानता ।

बालक यह सोच ही रहा था कि पुलिसवाला फिर पूछने लगता है –

"तेरी माँ मोटी है या पतली, गोरी या काली, लम्बी है या ठिगनी ?"

बालक ने तो कभी सोचा भी न था कि माताएँ भी छह प्रकार की होती हैं, उसने तो अपनी माँ को कभी इन रूपों में देखा ही न था । उसने तो माँ का माँपन ही देखा था, रूप-रंग नहीं, कद भी नहीं । वह कैसे बताये कि उसकी माँ गोरी या काली, लम्बी या ठिगनी, मोटी या पतली है?

यह तो सापेक्ष स्थितियाँ हैं ।

दूसरों से तुलना करने पर ही गोरा या काला कहा जा सकता है, लम्बा या ठिगना कहा जा सकता है, मोटा या पतला कहा जा सकता है ।

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि मैं गोरा हूँ या काला, लम्बा हूँ या ठिगना, मोटा हूँ या पतला ?

मैं तो जैसा हूँ वैसा ही हूँ, न गोरा हूँ न काला हूँ, न लम्बा हूँ न ठिगना हूँ और न मोटा ही हूँ न पतला ही । मेरी बगल में एक अंग्रेज को खड़ा कर दें तो उसकी अपेक्षा मुझे काला कहा जा सकता है, किसी ठिगने आदमी को खड़ा कर दो तो लम्बा कहा जा सकता है और मुझसे लम्बे आदमी को खड़ा कर दो तो ठिगना भी कहा जा सकता है । इसीप्रकार किसी मोटे आदमी को खड़ा कर दो तो मुझे पतला कहा जा सकता है और मुझसे भी पतले आदमी को खड़ा कर दो तो मोटा भी कहा जा सकता है ।

मैं किसी की अपेक्षा भले ही मोटा-पतला या गोरा-काला हो सकता हूँ, पर निरपेक्षपने तो जैसा हूँ, वैसा ही हूँ ।

उसने अपनी माँ की तुलना किसी दूसरे से की ही न थी । अतः वह कैसे बताये कि उसकी माँ कैसी है ?

उसके निरुत्तर रहने पर पुलिसवाले कहते हैं कि यह तो अपनी माँ को पहिचानता ही नहीं है, पर क्या यह बात सच है ? क्या वह बालक अपनी माँ को पहिचानता नहीं है ?

पहिचानना अलग बात है और पहिचान को भाषा देना अलग । हो सकता है कि वह अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकता हो, पर पहिचानता ही न हो – यह बात नहीं है; क्योंकि यदि उसकी माँ उसके सामने आ जावे तो वह एक क्षण में पहिचान लेगा ।

उसकी माँ का एक बीमा ऐजेन्ट ने कुछ वर्ष पूर्व एक बीमा करवाया था । अतः उसकी डायरी में सब-कुछ नोट है कि उसकी लम्बाई कितनी है, वजन कितना है, कमर कितनी है और सीना कितना है ।

अतः वह यह सब-कुछ बता सकता है, पर उसके सामने वह माँ आ जाये तो पहिचान न पावेगा । यदि पूछा जाय तो डायरी निकाल कर देखेगा और फीता निकाल कर नापने की कोशिश करेगा; पर सब बेकार है; क्योंकि जब उसने नाप लिया था, तब सीना ३६ इंच था और कमर ३२ इंच, पर आज सीना ३२ इंच रह गया होगा और कमर ३६ इंच हो गई होगी।

इसीप्रकार शास्त्रों में पढ़कर आत्मा की नाप-जोख करना अलग बात है और आत्मा का अनुभव करके पहिचानना, उसमें अपनापन स्थापित करना अलग बात है ।

जो भी हो, जब बालक कुछ भी न बता सका तो पुलिसवालों ने बालक को एक ऐसे स्थान पर खड़ा कर दिया, जहाँ से मेले में आने वाली सभी

महिलायें निकलती थीं । बालक की सुरक्षा के लिए एक पुलिसवाले को भी साथ में खड़ा कर दिया और बालक से कहा –

"यहाँ से निकलने वाली प्रत्येक महिला को ध्यान से देखो और अपनी माँ को खोजो ।"

इससे एक ही बात फलित होती है कि बालक को अपनी माँ स्वयं ही खोजनी होगी, किसी का कोई विशेष सहयोग मिलने वाला नहीं है; पुलिसवालों का भी नहीं ।

इसीप्रकार प्रत्येक आत्मार्थी को अपने आत्मा की खोज स्वयं ही करनी होगी, किसी दूसरे के भरोसे कुछ होने वाला नहीं है, गुरु के भरोसे रहने पर भी आत्मा मिलने वाला नहीं है । 'अपनी मदद आप करो' – यही महासिद्धान्त है ।

किसी भी महिला के वहाँ से निकलने पर पुलिसवाला पूछता –

"क्या यही तेरी माँ है ?"

बालक उत्तर देता – "नहीं ।"

ऐसा दो-चार बार होने पर पुलिसवाला चिढ़चिढ़ाने लगा और बोला –

"क्या नहीं-नहीं करता है, जरा अच्छी तरह देख ।"

क्या माँ को पहिचानने के लिए भी अच्छी तरह देखना होता है, वह तो पहली दृष्टि में ही पहिचान ली जाती है, पर पुलिसवाले को कौन समझाये ?

पुलिसवाले की झल्लाहट एवं डाट-डपट से बालक, जो माँ नहीं है, उसे माँ तो कह नहीं सकता है; यदि डर के मारे कह भी दे, तो भी उसे माँ मिल तो नहीं सकती; क्योंकि उस माँ को भी तो स्वीकार करना चाहिए कि यह बालक मेरा है । यदि कारणवश माँ भी झूठ-मूठ कह दे कि हाँ यह बालक मेरा ही है, पर उससे वह बालक उसका हो तो नहीं जायेगा।

आप कह सकते हैं कि वह महिला भी ऐसा क्यों कहेगी ? पर मैं कहता हूँ – कह सकती है, बाँझ हो तो बालक के लोभ में कह सकती है और पुलिसवाले तो किसी से भी कुछ भी कहला सकते हैं । क्या आप यह नहीं जानते ? पर बात यह है कि इतने मात्र से माँ को बालक और बालक को अपनी माँ तो नहीं मिल जावेगी ।

इसीप्रकार गुरु बार-बार समझायें और समझ में न आने पर हमें भला-बुरा कहने लगें तो हम भय से, इज्जत जाने के भय से कह सकते हैं कि हाँ समझ में आ गया, पर इतना कहने मात्र से तो कार्य चलने वाला नहीं है।

इज्जत वाले सेठ ने गुरुजी से पूछा – "भगवन ! आत्मा कैसा है और कैसे प्राप्त होता है ?"

गुरुजी ने पाँच मिनट समझाया और पूछा – "आया समझ में ?"

सेठ ने विनयपूर्वक उत्तर दिया – "नहीं गुरुजी"

गुरुजी ने पाँच मिनट और समझाया और फिर पूछा –

"अब आया ?"

"नहीं" उत्तर मिलने पर व्याकुल से गुरुजी फिर समझाने लगे, उदाहरण देकर समझाया और फिर पूछा "अब तो आया या नहीं ?"

"नहीं" उत्तर मिलने पर झल्लाकर बोले –

"माथे में कुछ है भी या गोबर भरा है ?"

घबड़ाकर सेठजी बोले – "सब समझ में आ गया"

इज्जत वाले थे न, इज्जत जाती दिखी तो बिना समझ में आये ही कह दिया, पर बालक तो इज्जत वाला नहीं है न ?

अतः वह माँ के मिले बिना कहने वाला नहीं है; क्योंकि उसे इज्जत नहीं, माँ चाहिए । जिन्हें आत्मा से अधिक इज्जत प्यारी है, उन्हें इज्जत ही मिलती है, आत्मा नहीं ।

जब बार-बार बालक न कहता रहा तो पुलिसवाला झल्लाकर बोला— "मैं धूप में क्यों खड़ा रहूँ, माँ तो मुझे ही खोजनी है । अतः मैं वहाँ छाया में बैठा हूँ, तू सभी महिलाओं को देख; जब माँ मिल जावे, तब मुझे बता देना ।"

ऐसा कहकर पुलिसवाला दूर छाया में जा बैठा । बालक ने भी राहत की सांस ली; क्योंकि पुलिसवाला कुछ सहयोग तो कर ही नहीं रहा था; व्यर्थ की टोका-टोकी कर ध्यान को भंग अवश्य कर रहा था ।

कम से कम अब उसके चले जाने पर बालक पूरी शक्ति से, स्वतंत्रता से माँ को खोज तो सकता है ।

इसीप्रकार जब साधक आत्मा की खोज में गहराई से तत्पर होता है, तब उसे अनावश्यक टोका-टोकी या चर्चा-वार्ता पसन्द नहीं होती; क्योंकि वह उसके ध्यान को भंग करती है ।

उस बालक को अपनी माँ की खोज की जैसी तड़प है, आत्मा की खोज की वैसी तड़प हमें भी जगे तो आत्मा मिले बिना नहीं रहे ।

वह बालक अच्छी तरह जानता है कि यदि सायं तक माँ नहीं मिली तो क्या होगा ? घनी अंधेरी रात उसे पुलिस चौकी की काली कोठरी में अकेले ही बितानी होगी और न मालूम क्या-क्या बीतेगी उस पर ? इसका ख्याल आते ही वह काँप उठता है, सब-कुछ भूलकर अपनी माँ की खोज में संलग्न हो जाता है ।

क्या उस बालक के समान हमें भी यह कल्पना है कि यदि जीवन की संध्या तक भगवान आत्मा नहीं मिला तो चार गति और चौरासी लाख

योनियों के घने अंधकार में अनन्त काल तक भटकना होगा, अनन्त दुःख भोगने होंगे। यदि हमें इसकी कल्पना होती तो हम यह बहुमूल्य मानव जीवन यों ही विषय-कषाय में बर्बाद नहीं कर रहे होते ।

उस बालक से यदि कोई कहे कि बहुत देर हो गई धूप में खड़े-खड़े; जरा इधर आओ, छाया में बैठ जाओ; कुछ खाओ-पिओ, खेलो-कूदो, मन बहलाओ; फिर खोज लेना अपनी माँ को, क्या जल्दी है अभी; अभी तो बहुत दिन बाकी है ।

तो क्या वह बालक उसकी बात सुनेगा, शान्ति से छाया में बैठेगा, इच्छित वस्तु प्रेम से खायेगा, खेलेगा-कूदेगा, मन बहलायेगा ? यदि नहीं तो फिर हम और आप भी यह सब कैसे कर सकते हैं, पर कर रहे हैं; — इससे यही प्रतीत होता है कि हमें आत्मा की प्राप्ति की वैसी तड़प नहीं है, जैसी उस बालक को अपनी माँ की खोज की है । इसलिए मैं कहता हूँ कि आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना पुरुषार्थ चाहिए, वह नहीं हो रहा है — यही कारण है कि हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं हो रही है ।

यह बात भी नहीं है कि वह बालक भूखा ही रहेगा; खायेगा, वह भी खायेगा, पर उसे खाने में कोई रस नहीं होगा । धूप बरदास्त न होने पर थोड़े समय को छाया में भी बैठ सकता है, पर ध्यान उसका माँ की खोज में ही रहेगा । खेलने-कूदने और मनोरंजन का तो कोई प्रश्न ही नहीं है ।

इसीप्रकार आत्मा का खोजी भी भूखा तो नहीं रहता, पर खाने-पीने में ही जीवन की सार्थकता उसे भासित नहीं होती । यद्यपि वह स्वास्थ्य के अनुरूप ही भोजन करेगा, पर अभक्ष्य भक्षण करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । कमजोरी के कारण वह अनेक सुविधाओं के बीच भी रह सकता है, पर उसका ध्यान सदा आत्मा की ओर ही रहता है । खेलने-कूदने

और मनोरंजन में मनुष्य भव खराब करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।

जब माँ की खोज में व्यस्त बालक का मन खेल-कूद और मनोरंजन में नहीं लगता; तब आत्मा के खोजी को यह सब कैसे सुहा सकता है ?

संयोग तो पुण्य-पापानुसार जैसे होते हैं, वैसे होते हैं; उनमें ही वह अपना जीवन-निर्वाह करता है । यदि पुण्ययोग हुआ तो उसे अधिकतम लौकिक सुविधायें भी उपलब्ध हो सकती हैं, रहने को राजमहल भी मिल सकता है; यद्यपि वह राजमहल में रहेगा, उसे झोंपड़ी में परिवर्तित नहीं करेगा; तथापि वह उन अनुकूल संयोगों में मग्न नहीं होता, उसका अन्तर तो निज भगवान आत्मा की आराधना में ही रत रहता है ।

जिसप्रकार संध्या के पूर्व बालक को माँ मिलनी ही चाहिए, उसीप्रकार जीवन संध्या के पूर्व हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति होना ही चाहिए – ऐसा दृढ़-संकल्प प्रत्येक आत्मार्थी का होना चाहिए; तभी कुछ हो सकता है ।

आत्मखोजी की दृष्टि भी उस बालक जैसी ही होना चाहिए । जिसप्रकार वह बालक अपनी माँ की खोज की प्रक्रिया में अनेक महिलाओं को देखता है, पर उसकी दृष्टि किसी भी महिला पर जमती नहीं है । यह पता चलते ही कि यह मेरी माँ नहीं है; वह नजर फेर लेता है; उसी को देखता नहीं रहता । यह नहीं सोचता कि यह मेरी माँ तो नहीं है, पर है तो सुन्दर; किसी न किसी की माँ तो होगी ही; पता चलाओ कि यह किसकी माँ है ? – ऐसे विकल्पों में नहीं उलझता; उसके सम्बन्ध में विकल्पों को लम्बाता नहीं है; अपितु तत्काल तत्सम्बन्धी विकल्पों से निवृत्त हो जाता है।

उसीप्रकार आत्मार्थी को भी चाहिए कि वह परपदार्थों को जानते समय, उनके सम्बन्ध में व्यर्थ ही विकल्पों को लम्बा न करे । जिस प्रयोजन से उनका जानना बना है, उसकी सिद्धि होते ही तत्सम्बन्धी विकल्पों को विराम

दे दे; किसी भी प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत परपदार्थ को जानकर उसे ही जानते रहना आत्मार्थी का लक्षण नहीं है ।

अपनी माँ की खोज करने वाला बालक किसी अन्य महिला की सुन्दरता पर रींझता नहीं है; उसे तो अपनी माँ चाहिए, दूसरी महिलाओं से उसे क्या उपलब्ध होनेवाला है ? अपनी माँ की खोज में व्यस्त बालक के पास दूसरी महिलाओं का सौन्दर्य निरखने का समय ही कहाँ है, उन पर रींझने योग्य मानस ही उसके पास कहाँ है ? वह तो अपनी माँ की खोज में ही आकुल-व्याकुल है ।

इसीप्रकार परपदार्थों के अवलोकन से, उनपर रींझने से इस भगवान आत्मा को क्या मिलने वाला है ? आत्मार्थी के पास इतना समय भी कहाँ है कि वह दूसरों की सुन्दरता निरखता रहे; किसी आत्मार्थी के पास परपदार्थों पर रींझने योग्य मानस भी कहाँ होता है ? वह तो अपनी आत्मा की खोज के लिए सम्पूर्णतः समर्पित होता है ।

दूसरे की माताओं को जाना तो क्या, नहीं जाना तो क्या ? अपनी माँ मिलनी चाहिए । उसीप्रकार दूसरे पदार्थों को जाना तो क्या, नहीं जाना तो क्या; अपनी आत्मा जानने में आना चाहिए, पहिचानने में आना चाहिए; क्योंकि हमें अनन्त आनन्द की प्राप्ति तो निज भगवान आत्मा के जानने से ही होने वाली है । यही कारण है कि यहाँ स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति और परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होना बताया गया है ।

जिसप्रकार वह बालक अन्य महिलाओं को जानता तो है, पर उनकी ओर लपकता नहीं है; उनसे लिपटता नहीं है; पर जब उसे अपनी माँ दिख जावेगी तो मात्र उसे जानेगा ही नहीं; उसकी तरफ लपकेगा भी; उससे लिपट भी जावेगा; उसमें तन्मय हो जावेगा, एकमेक हो जावेगा, आनन्दित हो जावेगा । उसीप्रकार आत्मार्थी आत्मा भी परद्रव्यों को जानते तो हैं, पर उनमें जमते, रमते नहीं हैं, पर जब यह निज भगवान आत्मा उसके

ज्ञान का ज्ञेय बनेगा तो, तब वह उसे भी मात्र जानता ही नहीं रहेगा, अपितु उसी में जम जावेगा, रम जावेगा, उसी में तन्मय हो जावेगा, उसी में अपनापन स्थापित कर लेगा, अनन्त आनन्दमय हो जावेगा ।

उसकी यह अतीन्द्रिय आनन्दमय निजावलोकन की दशा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्चारित्र है, मुक्ति का मार्ग है, सुखी होने का एकमात्र उपाय है, परमात्मा बनने की प्रक्रिया है, धर्म है; अधिक क्या कहें – जीवन में करने योग्य एकमात्र कार्य यही है, इसे ही स्वद्रव्य का आश्रय कहते हैं और यही सुगति भी है, बंध का निरोध भी इसी से होता है ।

अच्छा तो अब कल्पना कीजिए कि उस बालक को माँ दिखाई दे गई और उसने उसे अच्छी तरह पहिचान भी लिया कि यही मेरी माँ है तो फिर वह दौड़कर माँ के पास जायेगा या पुलिस वाले के पास यह सूचना देने कि मेरी माँ मिल गई है । निश्चित रूप से वह माँ के ही पास जायेगा, क्योंकि एक तो वह माँ के वियोग में तड़फ रहा था और दूसरे यह भी तो खतरा है कि जब तक वह पुलिस को सूचना देने जाता है तब तक माँ फिर आँख से ओझल हो गई तो . . .।

अतः वह तेज़ी से दौड़कर माँ के पास पहुँचेगा; पहुँचेगा ही नहीं, उससे लिपट जायेगा; माँ और बेटा तन्मय हो जावेंगे, अभेद हो जावेंगे, एक रूप हो जावेंगे ।

उसीप्रकार जब इस आत्मा की दृष्टि में निज भगवान आत्मा आता है, तब यह गुरु को या किसी अन्य को यह बताने नहीं दौड़ता कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया है, अपितु निज भगवान आत्मा में ही तन्मय हो जाता है, अपने में ही समा जाता है, एकरूप हो जाता है, अभेद हो जाता है, विकल्पातीत हो जाता है ।

जब वह माँ की ओर दौड़ा तो पुलिसवाला भी घबड़ाया और उसके पीछे वह भी दौड़ा । पुलिसवाले की घबराहट का कारण यह था कि यदि

बच्चा भी भीड़ में गायब हो गया तो मुश्किल हो जायेगी; क्योंकि उसकी तो रिपोर्ट लिखी हुई है । पुलिस की कस्टडी से बालक का गायब हो जाना, उसकी नौकरी जाने का कारण भी बन सकता है ।

जब पुलिसवाला वहाँ पहुँचा तो क्या देखता है कि वह बालक किसी अधेड़ महिला से एकमेक हो रहा है, दोनों एक-दूसरे से तन्मय हो रहे हैं ।

उन्हें एकाकार देखकर भी अपनी आदत के अनुसार पुलिसवाला घुड़ककर पूछता है – "क्या यही है तेरी माँ ?"

क्या अब भी यह पूछने की आवश्यकता थी ? उनके इस भावुक सम्मिलन से क्या यह सहज ही स्पष्ट नही हो गया था कि ये ही वे बिछुड़े हुए माँ-बेटे हैं, जिनकी एक-दूसरे को तलाश थी । जो इस सम्मिलन के अद्‌भुत दृश्य को देखकर भी न समझ पाये, उससे कुछ कहने से भी क्या होगा ?

उसीप्रकार आत्मानुभवी पुरुष की दशा देखकर भी जो यह न समझ पाये कि यह आत्मानुभवी है, उसे बताने से भी क्या होने वाला है ?

पुलिसवालों की वृत्ति और प्रवृत्ति से तो आप परिचित ही हैं, उनसे उलझना ठीक नहीं है, क्योंकि यह बता देने पर भी कि यही मेरी माँ है, वे यह भी कह सकते हैं कि क्या प्रमाण है इसका ? जैसा कि लोक में देखा जाता है कि खोई हुई वस्तु पुलिस कस्टड़ी में रखी जाती है, केस चलता है, अनेक वस्तुओं में मिलाकर पहिचानना होता है, तब भी मिले तो मिले, न मिले तो न मिले ।

मेरी यह घड़ी यहीं पर रह जावे और इसे कोई पुलिस में जमा करा दे तो समझना कि अब हमें इसका मिलना बहुत कठिन है । केस चलेगा, उसीप्रकार की अनेक घड़ियों में मिलाकर मुझ से पहिचान कराई जावेगी । मैं आपसे ही पूछता हूँ कि एक कम्पनी की एक-सी घड़ियों में क्या आप

अपनी घड़ी पहिचान सकेंगे ? नहीं तो फिर समझ लीजिए कि मेरी घड़ी मिलना कितना दुर्लभ है ?

अतः पुलिसवालों से उलझना ठीक नहीं है, वे जो पूछे चुपचाप उत्तर देते जावो, इसी में भलाई है; क्योंकि यदि उन्होंने माँ और बेटे दोनों को ही पुलिस कस्टडी में रख दिया तो क्या होगा ?

यह जगत भी पुलिसवालों से कम थोड़े ही है, इससे उलझना भी ठीक नहीं है; जगत के लोग यह भी तो पूछ सकते हैं कि क्या प्रमाण है कि तुम ज्ञानी हो; तो क्या ज्ञानीजन फिर इस बात के प्रमाण भी पेश करते फिरेंगे? प्रमाण पेश करने पर उन प्रमाणों की प्रमाणिकता पर संदेह किया जायेगा। अतः ज्ञानीजन इसप्रकार के प्रसंगों में जगत से उलझते नहीं हैं। इसी में सबकी भलाई है ।

क्या वह बालक इस बात की भी घोषणा करता है कि मुझे मेरी माँ मिल गई है । बालक या माँ के खोने पर तो यहाँ-वहाँ तलाश भी की जाती है और समाचारपत्रों में विज्ञापन भी निकाला जाता है, पर मिल जाने पर तो कोई घोषणाएँ नहीं करता, विज्ञापन नहीं निकालता ।

इसीप्रकार आत्मा की खोज की प्रक्रिया में तो पूछताछ हो सकती है, होती भी है, होना भी चाहिए; पर आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर घोषणा की आवश्यकता नहीं होती, विज्ञापन की भी आवश्यकता नहीं होती ।

खोये हुए लोगों के फोटो तो समाचारपत्रों में छपे देखे हैं, पर मिले हुए लोगों के फोटो तो आज तक नहीं देखे । यदि कोई छपाये तो यही समझा जाता है कि यह तो स्वयं के सम्पन्न होने के प्रचार का हल्कापन है । इसीप्रकार ज्ञानी होने की घोषणाएँ भी सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने की ही वृत्ति है, प्रवृत्ति है ।

बालक को माँ मिल गई, इतना ही पर्याप्त है, उसे माँ मिलने का यश नहीं चाहिए; इसीप्रकार ज्ञानियों को तो आत्मा की प्राप्ति ही पर्याप्त लगती

है, उन्हें आत्मज्ञानी होने का यश मोहित नहीं करता । बालक को तो माँ का मिलना ही पर्याप्त है, वह तो उसी में मग्न है, अत्यन्त सन्तुष्ट है, पूरी तरह तृप्त है, उसे अन्य कोई वांछा नहीं रहती । इसीप्रकार ज्ञानी धर्मात्माओं को तो आत्मा की प्राप्ति ही पर्याप्त है, वे तो उसी में मग्न रहते हैं, उसी में सन्तुष्ट रहते हैं; उसी में पूरी तरह तृप्त रहते हैं, उन्हें अन्य कोई वांछा नहीं रहती । वे इस बात के लिए लालायित नहीं रहते कि जगत उन्हें ज्ञानी समझे ही ।

बालक को माँ मिल गई, बस, वह तो उसमें मग्न है, तृप्त है; पर माँ के सामने एक समस्या है कि बालक के खोने पर उसने एक घोषणा की थी कि जो व्यक्ति बालक को उससे मिलायेगा, खोज लायेगा; उसे वह ५०० रुपये पुरस्कार देगी । अब वह पुरस्कार किसे दिया जाय – पुलिस को, बालक को या माँ को ?

पुलिस ने तो कुछ किया ही नहीं, माँ को तो बालक ने ही खोजा है और बालक को माँ ने खोजा है । पुलिस तो पुरस्कार पाने योग्य नहीं और माँ पुरस्कार देने वाली है; अब बालक ही शेष रहता है, पर बालक को तो पुरस्कार नहीं, माँ चाहिए थी, जो उसे मिल गई है; अब उसे पुरस्कार में कोई रस नहीं है । वह तो अपनी माँ में ही इतना तृप्त है कि पुरस्कार की ओर उसका लक्ष्य ही नहीं है ।

भाई, पुलिस का कोई योगदान ही न हो, यह बात भी नहीं है । आखिर बालक ने अपनी माँ की खोज पुलिस की सुरक्षा में ही की है, पुलिस के मार्गदर्शन में ही की है, यदि पुलिस की सुरक्षा उसे न मिली होती तो बालकों को उड़ाने वाला कोई गिरोह उसे उड़ा ले गया होता । यदि पुलिसवाले मार्मिक बिन्दु पर उसे खड़ा नहीं करते तो माँ की खोज में बालक यहाँ-वहाँ मारा-मारा फिरता और माँ हाथ न लगती । पुलिस ने उसे ऐसा स्थान बताया कि जहाँ से प्रत्येक महिला का निकलना अनिवार्य-सा ही था, तभी तो उसे माँ मिल सकी ।

अतः पुरस्कार पुलिस को ही मिलना चाहिए । इतने श्रम के बावजूद भी पुलिस को पुरस्कार के अतिरिक्त और मिला ही क्या है ? बालक को तो माँ मिल गई, माँ को बालक मिल गया, पुलिस को क्या मिला ? यह पुरस्कार मिल रहा है, सो आप वह भी नहीं देना चाहते – यह ठीक नहीं है ।

इसीप्रकार ज्ञानी गुरुओं के संरक्षण और मार्गदर्शन में ही आत्मा की खोज का पुरुषार्थ प्रारंभ होता है । यदि गुरुओं का संरक्षण न मिले तो यह आत्मा कुगुरुओं के चक्कर में फंसकर जीवन बर्बाद कर सकता है । तथा यदि गुरुओं का सही दिशा-निर्देश न मिले तो अप्रयोजनभूत बातों में ही जीवन बर्बाद हो जाता है । अतः आत्मोपलब्धि में गुरुओं के संरक्षण एवं मार्गदर्शन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । गुरुजी अपना कार्य (आत्मोन्मुखी उपयोग) छोड़कर शिष्य का संरक्षण और मार्गदर्शन करते हैं; उसके बदले में उन्हें श्रेय के अतिरिक्त मिलता ही क्या है ? आत्मोपलब्धि करने वाले को तो आत्मा मिल गया, पर गुरुओं को समय की बर्बादी के अतिरिक्त क्या मिला ? फिर भी हम उन्हें श्रेय भी न देना चाहें – यह तो न्याय नहीं है। अतः निमित्तरूप में श्रेय तो गुरुओं को ही मिलता है, मिलना भी चाहिए, उपादान निमित्त की यही संधि है, यही सुमेल है ।

जिसप्रकार उस बालक ने अपनी माँ की खोज के लिए विश्व की सभी महिलाओं को दो भागों में विभाजित किया । एक भाग में अकेली अपनी माँ को रखा । दूसरे भाग में शेष सभी महिलाओं को रखा । उसी प्रकार आत्मा की खोज करने वालों को भी विश्व को दो भागों में विभाजित करना आवश्यक है । एक भाग में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा को रखें और दूसरे भाग में परद्रव्य अर्थात् अपने आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थ रखे जावें ।

जिसप्रकार उस बालक को अपनी माँ की खोज के सन्दर्भ में देखने-जानने योग्य तो सभी महिलाएँ हैं; पर लिपटने-चिपटने योग्य मात्र अपनी माँ ही

है; उसीप्रकार आत्मार्थी के लिए भी देखने-जानने योग्य तो सभी पदार्थ हैं, पर जमने-रमने योग्य निज भगवान आत्मा ही है, अपनापन स्थापित करने योग्य अपना आत्मा ही है, रति करने योग्य तो सुगति के कारणरूप स्वद्रव्य ही है, दुर्गति के कारणरूप परद्रव्य नहीं; इसीलिए उक्त गाथाओं में कहा गया है –

"परद्रव्य से हो दुर्गति निज द्रव्य से होती सुगति ।
यह जानकर रति करो निज में अर करो पर से विरति ॥"

अपनी माँ को खोजने की जिसप्रकार की धुन - लगन उस बालक को थी, आत्मा की खोज की उसीप्रकार की धुन - लगन आत्मार्थी को होना चाहिए । आत्मार्थी की दृष्टि में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा ही सदा ऊर्ध्वरूप से बर्तना चाहिए । गहरी और सच्ची लगन के बिना जगत में कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, तब फिर आत्मोपलब्धि भी गहरी और सच्ची लगन के बिना कैसे संभव है ?

सभी आत्मार्थी भाई परद्रव्य से विरक्त हो स्वद्रव्य की आराधना कर आत्मोपलब्धि करें और अनन्त सुखी हों – इसी मंगल भावना से विराम लेता हूँ ।

टोरंटो में जैना (जैन एसोसियेशन इन नार्थ अमेरिका) का चतुर्थ द्विवार्षिक सम्मेलन था, जिसमें देश-विदेश के १२५० भाई-बहिन उपस्थित थे। यहाँ आचार्य श्री सुशील मुनि, चित्रभानुजी, बन्धुत्रिपुटी, भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी, भट्टारक चारुकीर्तिजी, भट्टारक लक्ष्मीसेनजी एवं डॉ. कुलभूषणजी लोखण्डे भी उपस्थित थे। सभी के व्याख्यान हुए । जो विषय चल रहा था, हम भी उसी विषय पर, जैन समाज की एकता पर बोले, जो सभी को बहुत पसंद आया ।

तदुपरान्त हम डलास पहुँचे, जहाँ एक दिन अतुल खारा एवं दो दिन वीरेन्द्र जैन के घर पर ठहरे ।

यहाँ भी जैन सेन्टर के लिए जगह खरीद ली गई है । बना-बनाया मकान है, उसमें आवश्यक परिवर्तन करके जिनबिंब विराजमान करने की योजना है । यहाँ भी अन्य स्थानों के समान ही एक मूर्ति दिगम्बर एवं एक मूर्ति श्वेताम्बर रहेगी । दोनों मूर्तियाँ एकसी व समान ऊँचाई की होंगी।

यहाँ पाठशाला भी चलती है । जैन सेन्टर के अध्यक्ष श्री अतुल खारा हैं, उनके प्रयत्नों से निरन्तर आध्यात्मिक वातावरण बना रहता है । यहाँ तीनों दिन जैन सेन्टर के हाल में ही शुद्धात्मशतक के पाठ के उपरान्त उसी की गाथाओं के आधार पर 'सम्यग्दर्शन और आत्मानुभूति' विषय पर मार्मिक प्रवचन हुए । प्रवचनोपरान्त गहरी तत्त्वचर्चा भी हुई ।

इसके बाद ७ जुलाई, १९८९ ई. को शिकागो पहुँचे, जहाँ निरंजन शाह के घर ठहरे, उस दिन एक प्रवचन उनके घर पर ही हुआ । दूसरे दिन शनिवार व रविवार को प्रतिदिन दो-दो प्रवचन हाल में रखे गये थे। समयसार गाथा १४४ पर हुए चारों प्रवचन बहुत ही प्रभावी रहे । चर्चा भी विषयानुसार गम्भीर ही चली ।

यहाँ से १० जुलाई, १९८९ ई. को मियामी पहुँचे, जहाँ महेन्द्रभाई शाह के घर पर ठहरे । यद्यपि हम यहाँ पहली बार ही गये थे, हमारा किसी से कोई परिचय भी नहीं था; अतः हम सोच रहे थे कि यहाँ कोई सरल विषय लेना होगा; पर जब चर्चा चली तो महेन्द्रभाई ने कहा कि हमारे पास आपके अनेक केसेट हैं, जिन्हें हम अनेक बार सुन चुके हैं ।

उन्हें वे केसेट लन्दन से भगवानजीभाई कचराभाई शाह से प्राप्त हुए थे। उन्होंने उन केसेटों की विषयवस्तु भी हमें बताई, जिससे हमें पता चला कि विगत पाँच वर्षों में जो प्रवचन हमने लन्दन में दिये थे, लगभग वे सभी केसेट उनके पास थे, जिन्हें वे अनेकों बार सुन चुके थे ।

उनके पास आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के योगसार पर हुए प्रवचनों का भी पूरा सेट था, जिसे वे बड़ी ही रुचिपूर्वक सुना करते थे।

उन्होंने हमें यह भी बताया था कि वे समयसार पर हुए स्वामीजी के प्रवचनों के केसेट भी प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं । उनकी भावना थी कि उन्हें समयसार ही सुनाया जाय । अतः वहाँ भी प्रतिदिन प्रातः उनके घर पर समयसार गाथा १४४ ही चलाई गई, जिसे सुनकर सभी को बहुत आनन्द हुआ ।

शाम को एक दिन उनके घर, एक दिन मनहरजी सुराना के घर एवं एक दिन हिन्दू मन्दिर के हाल में प्रवचन रखे गये थे । हिन्दू मन्दिर में जैनाजैनों के लिए रखा गया प्रवचन 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' विषय पर हुआ, शेष दो प्रवचन क्रमबद्धपर्याय पर चले । चर्चा भी प्रतिदिन विषयानुसार चलती ही थी । यहाँ हम साढ़े तीन दिन ठहरे । कुल मिलाकर ७ प्रवचन और इतने ही घण्टे तत्त्वचर्चा हुई ।

महेन्द्रभाई शाह अत्यधिक आध्यात्मिक रुचिसम्पन्न व्यक्ति हैं । उन्हें तैयार करने का श्रेय अहमदाबाद के रिटायर्ड जज श्री डाह्याभाई को है । वे डाह्याभाई की प्रशंसा करते थकते नही थे । वे उनका उपकार निरन्तर स्मरण करते रहते हैं ।

डाह्याभाई के बेटी-जमाई वहाँ रहते हैं । उनके जमाई का नाम महेन्द्र बंसाली है । वे भी आध्यात्मिक रुचिसम्पन्न हैं । डाह्याभाई उनके पास तीन-चार माह रहे थे । उसी समय उन्होंने इन लोगों को तैयार किया । उन्होने इन्हें जैन सिद्धान्त प्रवेशिका का अध्ययन कराया, जिससे इनकी नींव मजबूत हो गई ।

महेन्द्रभाई शाह के दो छोटे भाई भी उन्हीं के साथ रहते हैं । वे भी उनके अनुगामी हैं । सभी बहुत ही विनयशील हैं । माता-पिता तो साथ रहते ही हैं, तीनों भाइयों के बच्चे भी बड़े-बड़े हैं, फिर भी चौदह व्यक्तियों का परिवार एकसाथ रहता है । विदेशी भूमि पर इतने बड़े पढ़े-लिखे परिवार का एकसाथ रहना अपने-आप में आश्चर्य है । हो सकता है सम्पूर्ण अमेरिका में यह ही एकमात्र ऐसा परिवार हो, जो साथ-साथ रहता है ।

मियामी में उनका कम्प्यूटर एसम्बिलिंग का बहुत बड़ा व्यापार है, जिसे सभी मिल-जुलकर करते हैं ।

पूरा परिवार एकसाथ बैठकर स्वाध्याय करता है । इसप्रकार के सुव्यवस्थित सदाचारी परिवार भारत में भी बहुत कम देखने को मिलते हैं ।

मियामी उत्तरी अमेरिका का दक्षिणी भाग है, जो तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है । यहाँ सर्दियों में भी मौसम अच्छा रहता है, अन्य प्रान्तों के समान अधिक सर्दी नहीं पड़ती । अतः यहाँ सर्दियों में बहुत लोग आते हैं और महीनों रहते हैं । समृद्ध बृद्धजन लगभग यहीं रहना पसंद करते हैं । अतः यहाँ निजी बंगलों के अतिरिक्त पाँच हजार होटल हैं, जो सर्दियों में रिटायर्ड लोगों से भरे रहते हैं । इसलिए इसे बृद्धों का शहर भी कहा जाता है । यह अत्यन्त रमणीय स्थान है ।

मियामी से चलकर हम १३ जुलाई, १९८९ ई. के शाम को वोस्टन पहुँचे । यहाँ जैन सेन्टर के हाल में 'आत्मानुभूति प्राप्त करने के उपाय' पर मार्मिक प्रवचन व चर्चा हुई ।

वहाँ से चलकर १५ जुलाई, १९८९ ई. शनिवार को न्यूयार्क आये, जहाँ डॉ धीरूभाई शाह एवं रेखा शाह के घर पर ठहरे । उस दिन उन्हीं के घर पर प्रवचन रखा गया था । उन्होंने स्वयं की ओर से प्रवचन में आनेवाले सभी लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था भी रखी थी । उपस्थिति आशा से अधिक हो गई थी । शताधिक लोगों की उपस्थिति में हुआ यह कार्यक्रम बहुत ही अच्छा रहा ।

उन्होंने शुद्धात्मशतक के पाठ के लिए उसकी दो सौ फोटो कापियाँ तैयार करके रखी थीं । सभी के हाथ में पुस्तक देकर पहले शुद्धात्मशतक का पाठ किया गया । उसके बाद उसी की गाथाओं पर प्रवचन हुआ । चर्चा भी बहुत अच्छी हुई । पूरे प्रवचन व चर्चा का वीडियो कैसेट तैयार किया गया ।

दूसरे दिन रविवार को जैन सेन्टर के हॉल में प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये थे, जो बहुत अच्छे रहे ।

हम दूसरे दिन न्यूयार्क से चलकर १७ जुलाई, १९८९ ई. को लन्दन पहुँचे ।

प्रथम दिन १८ जुलाई, १९८९ ई. नवनाथ भवन के हॉल में सम्यग्दर्शन विषय पर प्रवचन रखा गया था । दूसरे दिन एक स्कूल के हॉल में प्रवचन रखा गया था । प्रवचनोपरान्त दोनों दिन चर्चा भी रखी गई थी । तीसरे दिन २0 जुलाई, १९८९ ई. को मानचेस्टर का कार्यक्रम था । वहाँ प्रवचन गाँधी हॉल में रखा गया था । उपस्थिति भी बहुत अच्छी थी और प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम भी बहुत अच्छे रहे ।

२१ जुलाई, १९८९ ई. को लिस्टर में कार्यक्रम था । यहाँ जैन मन्दिर के हॉल में प्रवचन रखे गये थे । यहाँ गतवर्ष ही पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ, जिसकी चर्चा विगतवर्ष हम कर ही चुके हैं ।

यहाँ एक प्रवचन २१ जुलाई की रात को एवं एक प्रवचन २२ जुलाई के प्रातः रखा गया था । दोनों प्रवचन एवं प्रवचनों के उपरान्त हुई चर्चा बहुत अच्छी हुई । यहाँ आठ-दस अजैन भाई भी प्रवचन में आये थे, जिनमें दो-तीन मुसलमान भी थे । वे इतने अधिक प्रभावित थे कि बार-बार कह रहे थे कि हम तो आपके दर्शन करने आये हैं । हमने उन्हें समझाया कि दर्शन तो भगवान के होते हैं । हम तो साधारण विद्वान हैं ।

उन्होंने हमें बताया कि हमारे पास आपके लन्दन में हुए प्रवचनों के पाँच केसेट हैं, जिन्हें हम लगभग प्रतिदिन अपनी मण्डली में सामूहिक रूप से सुनते हैं; उनसे हम इतने प्रभावित हुए हैं कि हमें आपके दर्शनों की तीव्र इच्छा थी और हम आपके दर्शनों के लिए भारत आकर जयपुर आने का कार्यक्रम बना रहे थे । तभी हमें एक भाई ने बताया कि आप तो यहीं आ रहे हैं, तभी से हम आपके आने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे, पर वह दिन आज आया है ।

उन्होंने बताया कि ये पाँचों केसेट हमारे एक मित्र के पास थे, जिन्हें वह प्रतिदिन सुना करता था । हम एक दिन उसके घर गये तो वह वही केसेट सुन रहा था । जबतक प्रवचन समाप्त नहीं हो गया, तबतक उसने हमसे कोई बात नहीं की । प्रवचन समाप्त होने पर जब हमने पूछा तो उसने हमें आपके बारे में बताया । हमने उससे केसेट माँगे तो उसने कहा – कापी करलो, मूल केसेट तो मैं किसी को नहीं दूँगा । हमने उससे कापी की। इसप्रकार कई कापियाँ होकर हमारी पूरी मण्डली में फैल गई, जिसमें हिन्दू-मुसलमान सभी हैं ।

उनका इतना वात्सल्य देखकर हम गद्‌गद् हो गये और हमें लगा कि सचमुच सभी भगवान आत्मा ही हैं, कोई हिन्दू-मुसलमान नहीं, कोई जैन नहीं । जहाँ भारत में बसे अनेक जैन भी इस तत्त्वज्ञान का विरोध करते हैं, वहाँ परदेश में बसे हिन्दू-मुसलमान भी कितने प्रेम से सुनते हैं, समझते हैं, शक्ति के अनुसार धारण भी करते हैं । वीतरागी तत्त्वज्ञान को संप्रदाय की सीमा में बांधना उचित नहीं है, संभव भी नहीं है ।

२२ जुलाई, १९८९, शनिवार की शाम को लन्दन में कार्यक्रम रखा गया था । यह कार्यक्रम भगवानजीभाई कचराभाई के वेयरहाउस के हॉल में रखा गया था । रात्रि ८.३० से १० बजे तक बहुत सुन्दर कार्यक्रम चला । इसके पूर्व सायं ५ से ६.३० बजे तक वीरेन्द्र जैन के घर पर कार्यक्रम रखा गया था । यह भी अच्छा रहा ।

यह तो सर्वविदित ही है कि तीन वर्ष पूर्व भगवानजीभाई ने शास्त्रों की कीमत कम करने के लिए एक लाख रुपये की स्वीकृति प्रदान की थी, जो अब पूर्ण प्रयोग में आ चुकी है । अब उन्होंने इसी प्रकार उपयोग करने के लिए एक लाख रुपये की स्वीकृति और प्रदान की है । इसप्रकार अब उनकी ओर से निरन्तर शास्त्रों की कीमत कम होती रहेगी ।

९० वर्ष की उम्र होने पर भी वे आध्यात्मिक जागृति में अत्यन्त सक्रिय हैं, व्यापारिक कार्यों से पूर्णतः निवृत्त होने पर भी धार्मिक गतिविधियों में

अत्यन्त उत्साह से भाग लेते हैं । स्वयं के परिवार को तो अध्ययन के प्रति, स्वाध्याय के प्रति जागृत रखते ही हैं, अन्य साधर्मी भाइयों में भी जो आध्यात्मिक जागृति लन्दन में देखने में आती है, उसका श्रेय भी उनको ही जाता है ।

लन्दन से २३ जुलाई, १९८९ ई. रविवार को प्रातः चलकर पश्चिमी जर्मनी के प्रमुख औद्योगिक एवं व्यापारिक नगर फ्रेन्कफर्ट पहुँचे, जहाँ उसी दिन विश्व हिन्दू परिषद् के तत्त्वावधान में 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' विषय पर व्याख्यान आयोजित था ।

यह व्याख्यान विश्व हिन्दू परिषद् के निर्माणाधीन मन्दिर के स्थल पर ही आयोजित किया गया था । साथ ही सबके भोजन की व्यवस्था भी रखी गई थी । लगभग २00 लोगों की उपस्थिति में हुए इस व्याख्यान में विश्व हिन्दू परिषद् के सम्पूर्ण संघाई क्षेत्र के अध्यक्ष प्रसिद्ध उद्योगपति अशोक चौहान और फ्रेन्कफर्ट नगर के अध्यक्ष श्रीनिवासन भी उपस्थित थे।

सम्पूर्ण कार्यक्रम को व्यवस्थित किया था श्री रमेशचन्दजी जैन ने । हम उन्हीं के घर पर इडार में ठहरे थे । वे विश्व हिन्दू परिषद् के लगनशील समर्पित कार्यकर्त्ता हैं, वे जयपुर के ही हैं, विभाजन के समय मुलतान (पाकिस्तान) से आई जैन समाज के अंग हैं और वेस्ट जर्मनी में उनका जवाहरात का बहुत बड़ा व्यवसाय है । वे सात्विक वृत्ति के सदाचारी गृहस्थ हैं, उनका समय व्यापार से भी अधिक विश्व हिन्दू परिषद् के काम में लगता है । विदेश में रहकर भी अपने देश की चिन्ता जितनी उन्हें है, उतनी देशवासियों में भी बहुत कम देखने को मिलती है ।

दूसरे दिन का कार्यक्रम उन्होंने अपने घर पर ही रखा था, जिसमें जैनसमाज के लोग उपस्थित थे । जयपुर के अनेक जौहरियों के ऑफिस वेस्ट जर्मनी

के इडार शहर में हैं, जिनमें नवलखाजी, ललवानीजी आदि प्रमुख हैं । सभी लोग आये थे ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस वर्ष की इस विदेश यात्रा में सर्वत्र क्रमबद्धपर्याय की धूम तो रही ही, साथ ही अन्य भी जो विषय चले, वे सब भी आध्यात्मिक ही थे । प्रसन्नता की बात यह है कि ये सभी विषय श्रोताओं के अनुरोध पर चलाये गये थे; इससे श्रोताओं की रुचि का आभास होता है ।

जो भी हो, पर अब विदेशों की भूमि पर भी जिन-अध्यात्म की जड़ें गहराई से जमती जा रही हैं, जो निकट भविष्य में ही बटवृक्ष का रूप ले सकती हैं ।

अखण्ड स्वाध्याय

हमें आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है, जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे, जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों । आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते, तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे संभव है? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं; उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय-कषाय में है ।

— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ - १११

७

आत्मा ही है शरण

आचार्य कुन्दकुन्द जिन-अध्यात्म परम्परा के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं । उनके ग्रन्थों में जिन-अध्यात्म का अत्यन्त विशुद्ध प्रतिपादन है । उनकी लौहलेखनी से प्रसूत अन्तस्तत्त्व के तलस्पर्शी प्रतिपादक समयसारादि ग्रन्थराज जिन-अध्यात्म के क्षेत्र में विगत दो हजार वर्षों से प्रकाशस्तम्भ का कार्य कर रहे हैं ।

प्रातःस्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द के प्रति श्रद्धासुमन समर्पित करने के लिए सम्पूर्ण जैनसमाज द्वारा उनका द्विसहस्राब्दी समारोह विगत वर्ष बड़े ही उत्साहपूर्वक सम्पूर्ण भारतवर्ष मे मनाया गया । हमने भी इस अवसर पर 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम' नामक ग्रन्थ लिखकर, 'कुन्दकुन्दशतक' व 'शुद्धात्मशतक' का संकलन कर एवं समयसार की गाथाओं का हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद कर उनके प्रति अपने श्रद्धासुमन समर्पित किए।

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के अवसर पर हम जहाँ भी प्रवचनार्थ गए, लगभग सर्वत्र ही उनके ग्रन्थराज समयसारादि पर या फिर कुन्दकुन्दशतक पर ही प्रवचन किए । विदेश यात्रा में भी इस वर्ष जहाँ-जहाँ गये, लगभग सर्वत्र ही समयसार एवं कुन्दकुन्दशतक की गाथाओं को आधार मानकर प्रवचन किए ।

इस वर्ष की यात्रा १ जून, १९९० को न्यूयार्क से आरंभ हुई । २ जून, शनिवार और ४ जून, सोमवार को डॉ. धीरूभाई के घर पर एवं ३ जून, रविवार को जिन मन्दिर में कुन्दकुन्दशतक के पाठ के उपरान्त इसी की दूसरी व तीसरी गाथा पर मार्मिक प्रवचन हुए । प्रवचनों में लगभग १५० लोग उपस्थित रहते थे ।

इस अवसर पर राजकोट वाले डॉ. चन्दूभाई कामदार एवं उनके भाई डॉ. ईश्वरभाई कामदार भी उपस्थित थे । हमारे प्रवचन के बाद पहले दिन डॉ. चन्दूभाई का प्रवचन भी रखा गया था, जिसमें उन्होंने कहा कि हमें कल्पना भी न थी कि यहाँ भी इसप्रकार की गहरी तत्त्वचर्चा सुननेवाले लोग हैं । डॉ. भारिल्ल प्रतिवर्ष यहाँ आते हैं और वीतराग-विज्ञान में सब समाचार लिखते भी हैं, पर आज साक्षात् देखकर हमारे विश्वास को और अधिक बल मिला है ।

हमने भी डॉ. चन्दूभाई के प्रवचनों का अधिक से अधिक लाभ लेने का अनुरोध किया, क्योंकि वे वहाँ दो माह रहनेवाले थे । उन दोनों ही भाइयों के सुपुत्र वहाँ रहते हैं । अमेरिका से वापिस होते समय ६ जुलाई, १९९० को एक व्याख्यान डॉ. ईश्वरभाई के सुपुत्र के घर भी रखा गया था, जिसमें लगभग २०-२५ डॉक्टर एवं और भी अनेक लोग थे ।

अकेले न्यूयार्क में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण अमेरिका और यूरोप में इस वर्ष हम जहाँ भी गये, सर्वत्र ही पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर में दिसम्बर, १९९० में होनेवाले विश्वस्तरीय विशाल पंचकल्याणक महोत्सव में पधारने का सभी को आमंत्रण दिया ।

५ जून, १९९० को टोरन्टो (कनाडा) पहुँचे । यहाँ जिनमन्दिर में पाँच दिन में पाँच प्रवचन कुन्दकुन्दशतक पर ही हुए । प्रवचन के बाद प्रतिदिन लगभग एक घंटा गहरी तत्त्वचर्चा होती थी । कुन्दकुन्दशतक का पाठ तो प्रतिदिन प्रवचनों के पूर्व होता ही था ।

यहाँ पुराने जैन मंदिर के हॉल को बेच दिया गया है और उसके स्थान पर उससे भी तिगुना बड़ा हॉल खरीद लिया गया है । अतः अब स्थान की कोई कमी नहीं रही है । नये हॉल में ५०० व्यक्ति आसानी से बैठ सकते हैं। यहाँ के प्रवचनों के वीडियो कैसेट भी तैयार किये गये । यहाँ समाज भी बड़ा है और उपस्थिति भी अच्छी रहती थी ।

यहाँ से ९ जून, १९९० को लासएंजिल्स पहुँचे, जहाँ १० जून, रविवार को जैन सेन्टर के विशाल हॉल में कार्यक्रम रखा गया था, जिसमें ५५० भाई-बहिन उपस्थित थे । हॉल तो खचाखच भरा ही था, ऊपर के हॉल में टी. वी. लगे थे, वहाँ भी अनेक लोग, विशेषकर बच्चों वाली महिलाएँ बैठी थीं ।

यह कार्यक्रम जैन सोशल ग्रुप की ओर से रखा गया था । इस कार्यक्रम का सम्पूर्ण भार डॉ. उदानी ने उठाया था । उन्होंने बताया कि मैं आपके व्याख्यान वर्षों से सुनता आ रहा हूँ । अतः मैं चाहता हूँ कि आपके प्रवचन अधिक से अधिक लोग सुनें – इसी भावना से भोजनादि की व्यवस्था भी की है, जिससे किसी को घर जाकर भोजन बनाने की आकुलता न रहे ।

कुन्दकुन्दशतक के पाठ के उपरान्त उसी की दूसरी-तीसरी गाथा पर हुए प्रवचनों ने इतना अधिक प्रभाव छोड़ा कि दूसरे दिन अवकाश का दिन न होने पर भी २०० से अधिक लोग प्रवचन सुनने आये ।

इसके अतिरिक्त रविवार को दोपहर सुबोध सेठ के घर एवं सोमवार को दोपहर सुधीर सेठ के घर पर प्रवचन व तत्त्वचर्चा के कार्यक्रम रखे गये, जो बहुत ही उपयोगी रहे; क्योंकि यहाँ गहरी तत्त्वचर्चा हुई ।

१२ जून, १९९० को फिनिक्स पहुँचे । प्रथम दिन का व्याख्यान हॉल में एवं दूसरे व तीसरे दिन के व्याख्यान डॉ. दिलीप वोवरा के घर पर रखे गये। विषय कुन्दकुन्दशतक की वे ही गाथाएँ थीं । इनके अतिरिक्त दोपहर में भी एक दिन डॉ. वोवरा एवं एक दिन डॉ. किरीटभाई गोशालिया के घर तत्त्वचर्चा रखी गई, जो अत्यन्त उपयोगी रही ।

फिनिक्स से चलकर १६ जून, १९९० को वाशिंगटन डी. सी. पहुँचे, जहाँ प्रतिवर्ष की भाँति इसवर्ष भी शिविर आयोजित था । इस वर्ष का शिविर जैन मन्दिर में रखा गया था । यहाँ इस वर्ष ही जिन-मंदिर की स्थापना हुई है । मन्दिर के परिसर में चार एकड़ जमीन है एवं मन्दिर में अत्यन्त मनोज्ञ तीन प्रतिमाएँ हैं, जिनमें एक दिगम्बर प्रतिमा और दो

श्वेताम्बर प्रतिमायें हैं । यहाँ आरंभिक तीन-चार व्याख्यान तो कुन्दकुन्दशतक की गाथाओं पर ही हुए । उसके बाद समयसार की गाथाओं पर भी तीन-चार व्याख्यान हुए, प्रश्नोत्तर भी खूब हुए ।

१९ जून, १९९० को रालेइघ पहुँचे, जहाँ चार दिन ठहरे । यद्यपि ये दिन अवकाश के दिन नहीं थे, सभी कार्यालय खुले थे; तथापि यहाँ प्रतिदिन चार-चार घंटे कार्यक्रम चलते थे । अधिकांश मुमुक्षु भाइयों ने छुट्टी ले ली थी । डॉ. बसंत दोशी ने तो अपना दवाखाना पूरे दिनों को बंद ही कर दिया था । प्रवीणभाई भी घंटे दो घंटे को ही ऑफिस जाते थे ।

डॉ. दोशी को अभी दो-एक वर्ष पूर्व ही रुचि जागृत हुई है, पर उन्हें आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय की इतनी तीव्र रुचि है कि उन्होंने अल्पकाल में ही अच्छा अभ्यास कर लिया है । कार चलाते समय भी वे चर्चा में इतने मग्न हो जाते थे कि एक दिन तो गाड़ी का एक्सीडेन्ट ही हो गया था । उसके बाद मैंने गाड़ी में चर्चा करने से इंकार कर दिया । गाड़ी में चलते समय हम कुन्दकुन्दशतक की कैसेट चला देते थे कि जिससे सबको तत्त्व की बात भी सुनने को मिलती रहे और अनावश्यक बात भी न हो।

यहाँ डॉ. बसंत दोशी एवं प्रवीणभाई आदि समयसारादि ग्रन्थों का नित्य स्वाध्याय करते हैं । उन्होंने समयसार का तीन बार आद्योपान्त स्वाध्याय कर लिया है । समयसार में स्थान-स्थान पर निशान लगा रखे थे, सूची में भी निशान लगा रखे थे । जिन-जिन प्रकरणों को स्पष्टीकरण की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई थी, सभी को चिह्नित कर रखा था । उन्होंने अपने सभी प्रश्नों का समाधान प्राप्त किया तथा आवश्यक प्रकरणों पर प्रवचन कराये। हमें उनकी जिज्ञासा देखकर और गंभीर विषयों पर चर्चा करके बहुत आनन्द आया।

कुन्दकुन्दशतक की गाथाओं के अतिरिक्त समयसार गाथा १४ एवं अप्रतिक्रमण भी विष है आदि प्रकरणों पर अत्यन्त मार्मिक प्रवचन हुए ।

डॉ. प्रवीणभाई तो मानो धर्मप्रचार के लिए समर्पित ही हैं । उनके स्वाध्याय कक्ष में स्वयं के स्वाध्याय के लिए तो सैंकड़ों ग्रन्थ हैं ही, पर वे यहाँ-वहाँ से जहाँ से भी उपलब्ध होती हैं, धार्मिक पुस्तकें मंगाकर सम्पूर्ण अमेरिका में सप्लाई करते रहते हैं । इसप्रकार जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में उनका बहुत बड़ा योगदान रहता है ।

उनके पास हमारे उन प्रवचनों के वे कैसेट तो हैं ही, जो विगत वर्षों में उनके यहाँ हुए है; पर उन्होंने वाशिंगटन डी.सी. के शिविरों में विगत सात वर्षों में हुए प्रवचनों के कैसेट भी मंगाकर अपने पास रखे हैं ।

उन्होंने इन सम्पूर्ण प्रवचनों को स्थानीय मुमुक्षु भाइयों को तो अनेक बार सुनाया ही है, साथ में उनका संक्षिप्त सार लिखकर सम्पूर्ण अमेरिका के प्रमुख लोगों के पास भेजा है । सभी को यह भी लिखा है कि इन प्रवचनों में से जो भी प्रवचन आप चाहें, उनकी कापी करके आपको भेजी जा सकती है । यह कार्य वे विशुद्ध धार्मिक भावना से कर रहे हैं । इसमें कोई आर्थिक प्रयोजन नहीं है । इसप्रकार उन्होंने हमारे प्रवचनों के सैकड़ों कैसेट सम्पूर्ण अमेरिका में फैला दिये हैं । हमारे ही नहीं, अन्य लोगों के प्रवचनों को भी वे इसीप्रकार प्रचारित करते रहते हैं ।

२३ जून को डलास पहुँचे, जहाँ जैन मन्दिर में कुन्दकुन्दशतक के पाठ के उपरान्त उसी की दूसरी व तीसरी गाथा पर प्रवचन हुआ । इसके बाद २४ जून को मियामी पहुँच गये । मियामी में धर्म-प्रचार का सम्पूर्ण कार्य महेन्द्रभाई शाह ही संभालते हैं । इस वर्ष वे बहुत उत्साह में थे । गत वर्ष जब हम उनके घर ठहरे थे, तब उनके छोटे भाई मुकुन्दभाई को कोई आध्यात्मिक रुचि नहीं थी । वे न तो स्वाध्याय ही करते थे और न किसी विद्वान के प्रवचन में ही बैठते थे ।

अनेक प्रयत्न करने के बाद भी महेन्द्रभाई उन्हें रुचि जागृत करने में सफल नहीं हुए थे; किन्तु हमारे प्रवचन सुनकर हमसे तत्त्वचर्चा करके, प्रश्नोत्तर

करके वे इतने प्रभावित हुए कि उनका जीवन ही बदल गया । अब वे स्वाध्याय भी करते हैं और अध्यात्म में गहरी रुचि भी लेने लगे हैं। इसकारण उनका सम्पूर्ण परिवार आनन्द विभोर था । मुकुन्दभाई ने इस वर्ष भी भरपूर चर्चा की और सब काम छोड़कर हमारे सभी कार्यक्रमों में शामिल हुए ।

यहाँ पर दो दिन में पाँच प्रवचन हुए, चर्चा भी खूब हुई । कुन्दकुन्दशतक के अतिरिक्त समयसार की गाथाओं पर भी प्रवचन हुए ।

२६ जून को अटलांटा पहुँचे । यहाँ सन्तोष कोठारी के घर पर प्रवचन रखा गया । कुन्दकुन्दशतक पर हुए प्रवचन के उपरान्त देर रात तक तत्त्वचर्चा भी चलती रही ।

अटलांटा से २७ जून को रोचेस्टर पहुँचे । यहाँ तीन प्रवचन विभिन्न लोगों के घरों में एवं एक अन्तिम प्रवचन शनिवार को प्रातः १० बजे इन्डियन कम्यूनिटी हॉल में हुआ । प्रवचनों की विषयवस्तु कुन्दकुन्दशतक की गाथाएँ एवं क्रमबद्धपर्याय रहे । प्रत्येक प्रवचन के बाद लगभग एक-एक घंटे आध्यात्मिक चर्चा भी हुई ।

शनिवार को ही दोपहर की फ्लाइट से चलकर डिट्रोयट पहुँचे, जहाँ शनिवार की शाम को व रविवार को दोपहर का प्रवचन रखा गया था । सोमवार को भी रात को प्रवचन रखा गया था । यहाँ प्रवचनों के अतिरिक्त अनेक आध्यात्मिक विषयों पर गहरी तत्त्वचर्चा भी हुई ।

३ जुलाई, १९९० को शिकागो पहुँचे, जहाँ ४ जुलाई, १९९० को प्रातः १० बजे एवं सायं ४ बजे से हॉल में प्रवचन रखे गये थे । ४ जुलाई अमेरिका का स्वतंत्रता दिवस है । अतः वहाँ इस दिन अवकाश रहता है। ५ जुलाई, १९९० को निरंजनभाई के घर पर ही प्रवचन रखा गया था। सभी प्रवचन व चर्चा बहुत ही प्रभावक रही । निरंजनभाई ने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में आने की भावना भी प्रगट की । वे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में पधारे भी थे तथा १ लाख ५० हजार रुपये का सहयोग भी

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को देकर गये हैं । उनकी अमेरिका में जिनवाणी घर-घर पहुँचाने की तीव्र भावना रहती है । तदर्थ उन्होंने धर्म के दशलक्षण गुजराती ५०० एवं हिन्दी २५ तथा सत्य की खोज गुजराती ५०० व हिन्दी २५ पुस्तकें मंगाई हैं, जिन्हें वे अमेरिका में वितरित करेंगे ।

६ जुलाई, १९९० को वोस्टन पहुँचे, जहाँ ७ व ८ जुलाई, तदनुसार शनिवार व रविवार जिनमन्दिर में प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये । उपस्थिति भी अच्छी थी और कार्यक्रम भी प्रभावक रहे ।

९ जुलाई को न्यूयार्क आये और वहाँ एक प्रवचन हुआ । इसप्रकार अमेरिका की यात्रा समाप्त करके ११ जुलाई, १९९० को लन्दन पहुँच गये, जहाँ प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी भगवानजीभाई कचराभाई के घर पर ठहरे और सात दिन तक लगातार प्रतिदिन सायंकाल हॉल में तथा प्रातःकाल भगवानजीभाई के घर पर प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये।

यह तो सर्वविदित ही है कि लन्दन में भगवानजीभाई की सक्रियता से निरन्तर स्वाध्याय की प्रवृत्ति चलती रहती है । इसकारण बहुत से भाई-बहिनों को अच्छा तत्त्वाभ्यास है । अतः व्याख्यान भी गंभीर चलते हैं और चर्चा भी अच्छी चलती है । भगवानजीभाई की भावना वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए साहित्य की कीमत कम करने की रहती है । इसकारण उन्होंने पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं उससे संबंधित संस्थाओं की ओर से प्रकाशित होने वाले कतिपय सत्साहित्य की कीमत कम करने के लिए लागत मूल्य का तीस प्रतिशत अनुदान देने के लिए तीन लाख रुपयों की घोषणा की।

यह घोषणा भगवानजीभाई ने स्वयं अन्तर की प्रेरणा से ही की थी। हमने इसके लिए कोई प्रेरणा उन्हें नहीं दी थी । यह तो सर्वविदित ही है कि हम कभी किसी को कहीं भी किसी भी प्रकार का खर्च करने की, दान देने की कोई प्रेरणा न तो व्यक्तिगत ही देते हैं और न सामूहिक ही,

हम तो अपने प्रवचनों में विशुद्ध आध्यात्मिक चर्चा ही करते हैं, संस्था का परिचय तक नहीं देते, पर संस्था का काम किसी से छिपा थोड़े ही रहता है। अतः काम देखकर लोग सहज ही सहयोग करते हैं ।

इस अवसर पर हमने २६ दिसम्बर, १९९० से २ जनवरी, १९९१ तक पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर में होनेवाले विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में पधारने का सबको हार्दिक आमंत्रण दिया । भगवानजीभाई ने भी पंचकल्याणक में शामिल होने के लिए सभी को प्रेरित किया । परिणामस्वरूप पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में उनके परिवार और संबंधियों में से २८ व्यक्ति पधारे थे और उन्होंने जन्मकल्याणक के अवसर पर पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के निर्माण कार्य में तीन लाख रुपये देने की घोषणा भी की ।

लन्दन में तीस हजार जैन रहते हैं, जिनमें दस हजार तो अफ्रीकी देशों से आये वीसा ओसवाल जाति के लोग हैं । इन लोगों ने लन्दन में शताधिक एकड़ जमीन लेकर उसमें जैन मन्दिर की स्थापना की है । मंदिर का निर्माण तो अभी शुरू भी नहीं हुआ है, अभी तो एक पूर्व-निर्मित मकान में ही भगवान विराजमान हैं; पर उन्होंने वहाँ बड़े-बड़े दो विशाल हॉल अवश्य बना लिए हैं, जिसमें हजारों व्यक्ति एक साथ बैठकर प्रवचन सुन सकते हैं । उनके शादी-विवाह आदि के कार्यक्रम भी उन्हीं हॉलों में सम्पन्न होते हैं ।

भगवानजीभाई भी वीसा ओसवाल जाति के ही हैं । अतः उनके सुपुत्र श्री लक्ष्मीचन्दभाई एवं भीमजीभाई चाहते थे कि आगामी कार्यक्रम उसी हॉल में रखे जायें एवं सम्पूर्ण वीसा ओसवाल समाज को आमन्त्रित किया जाए । अतः उनका अति आग्रह था कि उन्हें आगामी वर्ष का कार्यक्रम अभी से दिया जाए, जिससे वे सब कार्यक्रम व्यवस्थित कर सकें और समुचित प्रचार-प्रसार भी कर सकें।

इसप्रकार अमेरिका और यूरोप में वीतरागी तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार करते हुए १९ जुलाई, १९९० को जयपुर आ गये, क्योंकि जयपुर में २२ जुलाई, १९९० से शिक्षण शिविर आरंभ होना था ।

लगभग सर्वत्र ही कुन्दकुन्दशतक की जिन प्रारम्भिक गाथाओं को आधार बनाकर इस वर्ष प्रवचन किए गये, वे गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं :–

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेठ्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥२॥

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥३॥

इनका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है :–

अर्हंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठि पण ।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ॥२॥

सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण ।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ॥३॥

कुन्दकुन्दशतक में संकलित ये दूसरी व तीसरी गाथायें आचार्य कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड के मोक्षपाहुड की १०४वीं एवं १०५वीं गाथाएँ हैं ।

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी समारोह के अवसर पर आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों में से १०१ गाथाओं का संकलन कर यह कुन्दकुन्दशतक बनाया गया है, जो अनेक भाषाओं में प्रकाशित होकर दो वर्ष के अल्पकाल में सवा लाख से भी अधिक लोगों के हाथ में पहुँच चुका है । इसके हिन्दी पद्यानुवाद के बीस हजार से अधिक संगीतमय कैसेट भी देश-विदेश में घर-घर पहुँच चुके हैं और प्रतिदिन सुने जाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द की ये गाथाएँ अपने आप में महामंत्र हैं । इनमें सरल-सुबोध भाषा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही गई है । उक्त गाथाओं

की पहली ही पंक्ति में पंचपरमेष्ठी का स्मरण किया गया है । हमारे सर्वाधिक प्रिय महामंत्र णमोकार मंत्र में भी पंचपरमेष्ठी को ही नमस्कार किया है ।

णमोकार महामंत्र में ऐसी क्या विशेषता है कि जिसके कारण प्रत्येक जैनी प्रतिदिन प्रातःकाल इसे एक सौ आठ बार नहीं तो कम से कम नौ बार तो बोलता ही है । संपूर्ण जैनसमाज में समान रूप से मान्य यह महामंत्र प्रत्येक जैनी को संकटकाल में तो याद आता ही है, प्रत्येक शुभकार्य के आरम्भ में भी इसका स्मरण किया जाता है । प्रत्येक पालक अपने बालकों को दो-तीन वर्ष की अवस्था में ही इस महामंत्र को सिखा देता है । इसप्रकार यह जैन समाज के बच्चे-बच्चे को याद है ।

इसके अर्थ पर जब हम विचार करते हैं तो एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है कि इसमें पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा गया है ।

णमोकार महामंत्र का सीधा-सादा अर्थ इसप्रकार है :—

"अरहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार हो।"

— ऐसा होने पर भी इसकी इतनी लोकप्रियता क्यों है ?

गम्भीरता से विचार करने पर एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से ज्ञात होती है कि इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है, अपितु उन सभी महान आत्माओं को स्मरण किया गया है, जिन्होंने निज भगवान आत्मा की आराधना कर पंचपरमेष्ठी पद प्राप्त किया है, कर रहे हैं या भविष्य में करेंगे ।

व्यक्तिविशेष की महिमा से सम्प्रदाय पनपते हैं और गुणों की महिमा से धर्म की वृद्धि होती है । इसीलिए तो हमारे यहाँ कहा गया है कि —

जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया ।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया ॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो ।
भक्तिभाव से प्रेरित होकर चित्त उसी में लीन रहो ॥

जो सर्वज्ञ है, वीतरागी है और हितोपदेशी है; हम तो उसके ही चरणों में सिर नवाते हैं, वह चाहे महावीर हो, चाहे बुद्ध हो, चाहे जिन हो, चाहे हरि हो, चाहे हर हो, चाहे ब्रह्मा हो । चाहे कोई भी हो, पर यदि वह सर्वज्ञ-वीतरागी है तो हमारे लिए वन्दनीय है, प्रातः स्मरणीय है ।

व्यक्तिविशेष की आराधना करने वाला धर्म सार्वकालिक नहीं हो सकता, सार्वभौमिक नहीं हो सकता और सार्वजनिक भी नहीं हो सकता । व्यक्तिविशेष अनादि-अनन्त नहीं होने से सार्वकालिक नहीं होते, क्षेत्रविशेष से सम्बन्धित होने से सार्वभौमिक नहीं होते और जातिविशेष से सम्बन्धित होने से सार्वजनिक नहीं हो सकते; पर पंचपरमेष्ठी अनादि से होते आये हैं और अनन्तकाल तक होते रहेंगे, अतः सार्वकालिक हैं; ढाई द्वीप में सर्वत्र ही होते हैं, अतः सार्वभौमिक हैं और जातिविशेष से सम्बन्धित न होने से सार्वजनिक भी हैं ।

पंचपरमेष्ठी का आराधक होने के कारण ही जैनदर्शन सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक है ।

जैनदर्शन के अनुसार निज भगवान आत्मा की साधना करने वाले ही साधु कहलाते हैं और साधुओं में ही जो वरिष्ठ होते हैं, उन्हें आचार्य और उपाध्याय पद प्राप्त होते हैं । आत्मा की साधना से पूर्णता को प्राप्त पुरुष ही अरिहंत और सिद्ध बनते हैं । इसप्रकार आत्मसाधक और अरिहंत व सिद्ध ही पंचपरमेष्ठी हैं, जिन्हें इस णमोकार महामंत्र में नमस्कार किया गया है ।

इस णमोकार महामंत्र की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी से कुछ मांग नहीं की गई है, इसमें भिखारीपन नहीं है; पूर्णतः निःस्वार्थभाव से पंचपरमेष्ठी के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है, उसके बदले में कुछ भी चाहा नहीं गया है ।

जगत के अन्य जितने भी मंत्र हैं, उन सभी में कुछ न कुछ मांग अवश्य की जाती रही है और कुछ नहीं तो यही कहा जायेगा कि "सर्व शांति कुरू-कुरू स्वाहा ।" यद्यपि इसमें व्यक्तिगत रूप से कुछ भी नहीं चाहा गया है, सबके लिए पूर्ण शान्ति की कामना की गई है, जो बहुत अच्छी बात है; क्योंकि जो कुछ चाहा गया है, वह सबके लिए चाहा गया है, सबके हित के लिए चाहा गया है, विषय-कषाय की पूर्ति की कामना नहीं की गई है, शांति की ही कामना की गई है, तथापि चाहा तो गया ही है, मांग तो की ही गई है ।

यह तो आप जानते ही हैं कि भारतीय संस्कृति में मांगने को सर्वाधिक बुरा बताया गया है । कहा गया है कि –

रहिमन वे नर मर गयें जो नर मांगन जाँय ।
उनसे पहले वे मरे जिन-मुख निकसत नाँहि ॥

उक्त छन्द में मांगनेवालों को मरे हुए के समान बताया गया है । कहा गया है कि जो किसी के दरवाजे पर मांगने जाते हैं, समझ लो वे लोग मर ही गये हैं; क्योंकि मांगना स्वाभिमान खोये बिना संभव नहीं है और जिनका स्वाभिमान समाप्त हो गया है, वे जिन्दा होकर भी मृतक समान ही हैं ।

इसमें एक बात और भी कही गई है कि मांगनेवाले तो मृतक समान हैं ही, पर मांगने पर मना करनेवाले तो उनसे भी गये बीते हैं । उन्हें तो मांगनेवालों से भी पहले मर गया समझो ।

मांगने पर तो विष्णु भगवान को भी बावनिया बनना पड़ा था, फिर औरों की तो बात ही क्या है? ऐसी भारतीय संस्कृति में कि जिसमें मांगने को इतना हीन समझा गया हो; उसमें, जिसमें कुछ मांग प्रस्तुत न की गई हो, वह मंत्र महामंत्र बन गया तो आश्चर्य की बात क्या है ?

कुछ लोग कहते हैं कि णमोकार महामंत्र में बड़ी ही उदारता से लोक के सभी साधुओं को नमस्कार किया गया है । उदारता की व्याख्या करते हुए वे यह कहने से भी नहीं चूकते हैं कि जैन साधु और जैनेतर साधुओं को इसमें बिना भेदभाव किये समानरूप से नमस्कार किया गया है ।

क्या 'णमो लोए सव्वसाहूणं' का सचमुच यही भाव है ? या फिर जैनेतरों को प्रसन्न करने के लिए यह कह दिया जाता है ?

यद्यपि यह बात सत्य है कि इसमें किसी साधु विशेष का नाम लेकर नमस्कार नहीं किया गया है, किसी सम्प्रदाय विशेष का भी नाम नहीं लिया गया है, किसी धर्म का भी नाम नहीं लिया गया है; तथापि इसमें वे ही साधुगण आते हैं, जो पंचपरमेष्ठी में शामिल हैं, अट्ठाईस मूलगुणों के धारी हैं; जो जैन परिभाषा के अनुसार छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलनेवाले हैं या उससे भी ऊपर हैं । अतः यह सुनिश्चित है कि 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में वीतरागी भावलिंगी जैन संत ही आते हैं, क्योंकि जैन परिभाषा के अनुसार वे ही लोक के सर्वसाधु हैं, अन्य नहीं ।

सामान्यरूप से पंचपरमेष्ठी का स्मरण करना, नमस्कार करना प्रत्येक जैन का प्राथमिक कर्तव्य है, जिसे प्रत्येक जैन प्रतिदिन णमोकार महामंत्र के जाप के माध्यम से निभाता ही है और निभाना भी चाहिए ।

जिनसे हमारा उपकार न हुआ हो, जिनसे हमारा साक्षात् परिचय भी न हो; पर जो भी परमपद में स्थित हैं, पंचपरमेष्ठी में आते हैं; वे सभी हमारे लिए समानरूप से पूज्य हैं, उनमें भेदभाव करना उचित नहीं है । उन सभी को समानरूप से स्मरण करना ही 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद का मूल प्रयोजन है ।

हमारे प्रत्यक्ष उपकारी तो वे ज्ञानी गृहस्थ धर्मात्मा भी हो सकते हैं, जो अभी पंचपरमेष्ठी में शामिल नहीं हैं, वे भी पूज्य तो हैं ही, पर पंचपरमेष्ठी के समान पूज्य नहीं । अष्टद्रव्य से पूज्य तो पंचपरमेष्ठी ही हैं। उन्हीं को णमोकार महामंत्र में स्थान प्राप्त है, ज्ञानी गृहस्थ धर्मात्माओं को नहीं।

इस संदर्भ में एक बात और भी उल्लेखनीय है कि णमोकार महामंत्र की महिमा बतानेवाली गाथा में णमोकार मंत्र को सब पापों का नाश करनेवाला कहा गया है । वह गाथा मूलतः इसप्रकार है :—

"ऐसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढ़मं होहि मंगलम् ॥

यह नमस्कार महामंत्र सब पापों का नाश करनेवाला और सब मंगलों में पहला मंगल है ।"

इस गाथा के अर्थ समझने में भी भारी भूल होती है । सब पापों का नाश करने का अर्थ यह समझा जाता है कि भूतकाल में हमने जो भी पाप किए हैं, इस महामंत्र के उच्चारण मात्र से उन सबका नाश बिना फल दिए ही हो जाता है ।

यदि ऐसा है तो फिर हम सभी लोग प्रतिदिन इसे बोलते ही हैं, अतः हमारे पुराने पापों का नाश हो जाना चाहिए था, पर ऐसा तो दिखाई नहीं देता है; क्योंकि प्रतिदिन णमोकार महामंत्र बोलने वालों के भी पाप का उदय देखा जाता है, पाप के उदय में उन्हें अनेक प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है । यह सब हम प्रतिदिन देखते हैं, प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

इससे बचने के लिए यदि यह कहा जाये कि हमें इस पर पक्का भरोसा नहीं है, विश्वास नहीं है; अतः हमारे पापों का नाश नहीं होता है ।

अरे भाई, न सही हमें विश्वास, पर क्या किसी को भी विश्वास नहीं है? लाखों लोग प्रतिदिन णमोकार महामंत्र बोलते हैं और लगभग सभी

के थोड़ा-बहुत पाप का उदय देखने में आता ही है । पाप के उदय में प्रतिकूलताएँ भोगते हम सभी को सदा देखते ही हैं ।

जाने दो णमोकार महामंत्र बोलने वालों को, पर णमोकार महामंत्र में जिन्हें नमस्कार किया गया है, उन्हें भी तो पापोदय देखने में आता है । हमारे वीतरागी सन्तों पर जो उपसर्ग होते हैं, वे सभी पापोदय के ही तो परिणाम हैं । जब उनके ही पापों का नाश नहीं हुआ तो उनका नाम लेने से हमारे पापों का नाश कैसे होगा ?

यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्रत्येक विचारक के हृदय को आंदोलित करता है । इस पर गंभीरता से विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति जिस समय इस महामंत्र का भावपूर्वक, समझपूर्वक स्मरण करता है, उसके हृदय में उस समय कोई पापभाव उत्पन्न ही नहीं होता, यही सब पापों का नाश होना है ।

प्रश्न :— यदि 'उस समय पापभाव उत्पन्न नहीं होते' मात्र इतना ही आशय है तो फिर सब पापों के नाश की बात क्यों कही गई है ?

उत्तर : — पाप अनेक प्रकार के हैं; हिंसा झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। ये सभी पापभाव णमोकार मंत्र के स्मरण के काल में उत्पन्न नहीं होते — इसकारण ही 'सब' शब्द का प्रयोग है । यहाँ 'सब' शब्द का अर्थ वर्तमान में उत्पन्न होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के परिणाम ही हैं । इसमें भूतकाल में किए गये पापों से कोई तात्पर्य नहीं है। यदि भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी द्रव्य-पाप एवं भाव-पाप मात्र णमोकार मंत्र के बोलने मात्र से नष्ट हो जाते होते तो फिर आत्मध्यानरूप तप की क्या आवश्यकता थी, उपशम श्रेणी-क्षपकश्रेणी मांडने की क्या आवश्यकता थी ? सभी कर्मों का नाश णमोकार मंत्र के बोलने से ही हो जाता ।

इसीप्रकार यदि णमोकार मंत्र बोलने मात्र से सभी पाप नाश को प्राप्त हो जाते होते तो फिर कोई पाप करने से डरता ही क्यों ? दिनभर जी-भरकर

पाप करो और सायं को णमोकार मंत्र बोल लो, सब पापों का नाश हो ही जायेगा । इसप्रकार तो यह महामंत्र पापियों को अभयदान देनेवाला हो जायेगा। अतः यही सही है कि जिस समय हम णमोकार मंत्र बोलते हैं, उस समय कोई पापभाव हमारे मन में भी उत्पन्न नहीं होता । यह बात अनुभवसिद्ध भी है; क्योंकि जब-जब भी हमारा मन पंचपरमेष्ठी के स्मरण-चिन्तन में रहता है, तबतक कोई पापभाव मन में नहीं आता, परिणाम निर्मल ही रहते हैं ।

इस पर यदि कोई कहे कि णमोकार महामंत्र के स्मरण से भूतकाल के पापों का नाश नहीं होता तो णमोकार मंत्र बोलने से लाभ ही क्या है ? क्या अकेले वर्तमान पापभावों से बचने के लिए ही इसका जाप करें? क्या इस महामंत्र का इतना ही माहात्म्य है ? इस भाव तो हमें यह नहीं पुसाता।

अरे भाई, यह बात तो ऐसी ही हुई कि जैसे किसी सेठ ने सायं ६ बजे से प्रातः ६ बजे तक के लिए रात की चौकीदारी पर एक चौकीदार को रखा, पर उसके यहाँ दिन के १२ बजे चोरी हो गई । तब वह कहने लगा कि जब दिन को १२ बजे चोरी हो गई तो चौकीदार रखने से क्या लाभ है ? हटाओ इस चौकीदार को ।

पर भाई, क्या यह सोचना सही है ? अरे रात का चौकीदार रखा है तो रात को चोरी नहीं हुई, भले ही दिन को हो गई । इससे अच्छी चौकीदारी और क्या हो सकती है कि चौकीदार के कारण चोर रात को तो चोरी न कर सका, पर दिन को चोरी करने में सफल हो गया । इससे तो चौकीदार की उपयोगिता ही सिद्ध हुई है । यदि आप चाहते हैं कि भविष्य में दिन को भी चोरी न हो तो एक चौकीदार दिन को भी रखो ।

इसीप्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि जिस समय णमोकार महामंत्र का स्मरण होता रहा, उस समय पापबंध नहीं हुआ; तब यदि हम चाहते

हैं कि हमें कभी भी पापबंध न हो तो हमें सदा ही पंचपरमेष्ठी का स्मरण रखना चाहिए । यही सद्विवेक है, सच्ची समझ है ।

जिस कार्य का जितना फल है, उससे अधिक मान लेने से तो कुछ कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है ।

णमोकार महामंत्र में कुछ मांगा नहीं जाता है, तथापि उसके स्मरण से सभी पापभावों से बच जाते हैं । यह सब पंचपरमेष्ठी के स्मरण का ही प्रताप है । आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त गाथा में भी बिना किसी मांग के पंचपरमेष्ठी का स्मरण किया गया है । इसलिए मैं कहता हूँ कि यह गाथा आचार्य कुंदकुंद का णमोकार महामंत्र है ।

यद्यपि णमोकार महामंत्र में कुछ मांगा नहीं गया है, पर उसके बाद आने वाली पंक्तियों में अरहंतादिक की शरण में जाने की बात अवश्य कही गई है । कहा गया है :—

"चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।"

उक्त पंक्तियों में अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवलीभगवान द्वारा कहे गये धर्म की शरण में जाने की बात कही गई है । शरण में जाने की बात के माध्यम से शरण की मांग तो कर ही ली है, पर आचार्य कुंदकुंद ने तो निजभगवान आत्मा की शरण में जाने की ही बात की है । "तम्हा आदा हु मे सरणम्" कहकर वे निज आत्मा की शरण में जाने की ही बात करते हैं । यदि पंचपरमेष्ठी से कुछ मांग न करने के कारण ही णमोकार महामंत्र महान है तो फिर आचार्य कुंदकुंद की उक्त गाथा निश्चित रूप से महान है।

इस गाथा में वे आत्मा की शरण में जाने की बात को सयुक्ति सिद्ध करते हैं । इस बात की चर्चा करने के पूर्व में णमोकार मंत्र के बाद आने

वाले मंगल, उत्तम और शरण बताने वाले पाठ के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ ।

णमोकार महामंत्र में तो पाँचों ही परमेष्ठियों का स्मरण किया गया है, पर मंगल, उत्तम और शरण बताते समय आचार्य और उपाध्याय को छोड़ दिया है । क्या आप जानते हैं कि ऐसा क्यों किया गया है ?

मुक्ति प्राप्त करने के लिए साधु होना अनिवार्य है, अरहंत होना अनिवार्य है, सिद्ध होना भी अनिवार्य है, क्योंकि सिद्ध होना ही तो मुक्ति प्राप्त करना है, पर मुक्त होने के लिए आचार्य और उपाध्याय होना अनिवार्य नहीं है। यही कारण है कि मंगल, उत्तम और शरण की चर्चा में उन्हें शामिल नहीं किया गया है ।

न केवल इतनी ही बात है कि मुक्ति के लिए आचार्यपद आवश्यक नहीं है, अपितु बात तो यहाँ तक है कि आचार्य जबतक आचार्यपद पर हैं, तबतक उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । उनके अनेक साधु शिष्यों को केवलज्ञान हो जाता है, पर उन्हें नहीं होता । जब वे आचार्यपद छोड़कर सामान्य साधुपद धारण करते हैं और आत्मसन्मुख होते हैं, तभी केवलज्ञान होता है।

यद्यपि यह सत्य है कि आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठियों को सर्वसाधुओं में शामिल कर लिया गया है, उन्हें छोड़ा नहीं गया है; तथापि उन्हें गौण तो किया ही गया है और गौण करने का एकमात्र कारण मुक्ति प्राप्त करने में उक्त पदों की कोई उपयोगिता नहीं होना ही है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधुओं में आचार्य उपाध्यायों को शामिल करने के स्थान पर आचार्यों में साधुओं को शामिल करना चाहिए; क्योंकि आचार्य बड़े हैं, साधुओं के भी गुरु हैं, उनके भी पूज्य हैं । अतः आचार्यों के नाम का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए था और साधुओं को उसमें शामिल कर लेना चाहिए था ।

अरे भाई, यहाँ छोटे-बड़े का सवाल नहीं है । बात यह है कि आचार्य परमेष्ठी साधु परमेष्ठी भी हैं ही, पर साधु परमेष्ठी आचार्य नहीं हैं ।

तात्पर्य यह है कि आचार्य परमेष्ठी अपने ३६ मूलगुण के धारी तो होते ही हैं तथा साधुओं के २८ मूलगुण भी उनके होते ही हैं, किन्तु साधु मात्र २८ मूलगुणों के ही धारी होते हैं, उनके आचार्यों के ३६ मूलगुण नहीं होते ।

बात यह है कि आचार्य साधु और आचार्य दोनों एक साथ हैं, पर साधु मात्र साधु ही है; अतः उनका समावेश आचार्य पद में संभव नहीं है ।

यदि कोई कहे कि एक ओर तो आप कहते हैं कि आचार्य और उपाध्यायों को मंगल, उत्तम और शरण में शामिल नहीं किया गया है, क्योंकि ये पद मुक्तिमार्ग में आवश्यक नहीं हैं, साधक नहीं हैं, अपितु बाधक हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि उन्हें साधु पद में शामिल कर लिया गया है। क्या ये परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं ?

नहीं; क्योंकि ये तो विभिन्न अपेक्षाओं का दिग्दर्शन हैं, इसमें कोई विरोधाभास नहीं है । दूसरी बात यह भी तो है कि जो आचार्यों को साधु पद में शामिल किया गया, वह उनके साधु पद के कारण ही किया गया है, आचार्यपद के कारण नहीं ।

अतः मुख्य बात तो यही है कि मुक्ति के मार्ग में अनावश्यक होने से आचार्य और उपाध्याय पद को गौण किया गया है । गजब की बात तो यह है कि आचार्यों और उपाध्यायों से दीक्षादि ली जाती है, उपदेश की प्राप्ति होती है, फिर भी उनकी शरण में जाने को तो गौण किया है और जिन सिद्ध व साधुपरमेष्ठी से कोई प्रत्यक्ष उपकार संभव नहीं होता, उनकी शरण चाही गई है । इससे भी यही प्रतीत होता है कि इसमें मोक्ष और मोक्षमार्ग के प्रति अति बहुमान व्यक्त करना ही मूल उद्देश्य है, शरण में जाने का अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं । मुक्ति और मुक्तिमार्ग में अरहंत, सिद्ध और साधुपद तो आते हैं, पर आचार्य और उपाध्याय पद आना अनिवार्य नहीं है। आचार्य पद तो प्रशासन का पद है और उपाध्याय पद अध्यापन

का पद है; दोनों में ही माथे पर भार रहता है । जबतक माथे पर भार रहेगा, तबतक क्षपकश्रेणी मौड़ना संभव नहीं है, क्षपकश्रेणी निर्भार व्यक्तियों को ही होती है ।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि णमोकार महामंत्र में जो शरण की बात कही गई है, वह भी कुछ मांग नहीं है; अपितु बहुमान की बात ही है; तथापि पर की शरण की बात कही तो गई है न, पर आचार्य कुंदकुंद तो पर की शरण में जाने की बात ही नहीं करते। वे तो साफ-साफ कहते हैं :—

"अरहंत सिद्धाचार्य पाठक, साधु हैं परमेष्ठी पण ।
सब आतमा की अवस्थाएँ, आतमा ही है शरण ।।"

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब हैं क्या ? आखिर एक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं न ? एक निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं न ? तो फिर हम इनकी शरण में क्यों जावें, हम तो उस भगवान-आत्मा की ही शरण में जाते हैं, जिसकी ये अवस्थायें हैं, जिसके आश्रय से ये अवस्थायें उत्पन्न हुई हैं । सर्वाधिक महान, सर्वाधिक उपयोगी, ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय एवं परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो निज भगवान आत्मा ही है, उसकी शरण में जाने से ही मुक्ति के मार्ग का आरंभ होता है, मुक्तिमार्ग में गमन होता है और मुक्तिमहल में पहुँचना संभव होता है ।

सिद्ध भगवान तो मुक्त ही हैं तथा अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु मुक्तिमार्ग के पथिक हैं तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र — इन तीनों की एकता मुक्तिमार्ग है । मुक्तिदशा, मुक्तिमार्ग के पथिकरूप साधकदशा तथा मुक्तिमार्ग रूप साधनदशा सभी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं । ये सभी अवस्थायें निजभगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होती हैं । इसलिए निजभगवान आत्मा की शरण में जाना ही सुखी होने का एकमात्र उपाय है।

पंचपरमेष्ठी हमारे लिए परमपूज्य हैं, प्रातः स्मरणीय हैं, वंदनीय हैं, अभिनंदनीय हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र साक्षात् मुक्ति का मार्ग हैं। हमें परमेष्ठी पद में स्थित होना है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना ही पंचपरमेष्ठी पद में स्थित होना है । इसप्रकार हमारे जीवन में पंचपरमेष्ठी एवं रत्नत्रय का महत्त्वपूर्ण स्थान है । पर ये पंचपरमेष्ठी पद और रत्नत्रय धर्म सभी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं । इन्हें प्राप्त करने के लिए निज भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान आवश्यक है । अतः यहाँ आत्मा की ही शरण में जाने की बात कही गई है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि शरण में जाने की बात तो दो द्रव्यों के बीच में ही संभव है, स्वयं का स्वयं की शरण में जाना किसप्रकार संभव है?

अरे भाई ! निज भगवान आत्मा को जानना, पहिचानना और उसमें जमना-रमना ही आत्मा की शरण में जाना है । त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा को जानना और यह जानना कि 'यही मैं हूँ' निज भगवान आत्मा की सम्यग्ज्ञानरूप उपासना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है; तथा उसी त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना – 'ये ही मैं हूँ' –ऐसी दृढ़ प्रतीति करना ही आत्मा की सम्यग्दर्शनरूप उपासना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है; त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा में लीन हो जाना, रम जाना, जम जाना, समा जाना, उसी का ध्यान करना, निज भगवान आत्मा की सम्यक्चारित्ररूप उपासना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है ।

इसी बात को समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में समागत १५वें कलश में इसप्रकार कहा है :–

"एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।।

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों के लिए साध्य-साधक भाव के भेद से दो प्रकार से, इस ज्ञान के घनपिंड एक भगवान आत्मा की ही नित्य उपासना करने योग्य हैं ।"

यहाँ आचार्य महाराज उपदेश दे रहे हैं, आदेश दे रहे हैं कि हे आत्मार्थी पुरुषो ! आत्मा का कल्याण चाहने वाले सत्पुरुषो !! तुम निरन्तर ज्ञान के घनपिंड आनंद के रसकंद इस भगवान आत्मा की ही उपासना करो, आराधना करो; चाहे साध्यभाव से करो, चाहे साधकभाव से करो, पर एक निज भगवान आत्मा की ही उपासना करो । उपासना करने योग्य तो एकमात्र यह ज्ञान का घनपिंड और आनंद का रसकंद एक भगवान आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं ।

यहाँ आत्मा की उपासना करने का तात्पर्य निज आत्मा की पूजा-भक्ति करने से नहीं है, स्तुति-वंदना करने से भी नहीं है, नमस्कारादि करने से भी नहीं है; अपितु उसे सही रूप में जानने से है, पहिचानने से है, उसका अनुभव करने से है, उसी में समा जाने से है; उसी का नित्य ध्यान करने से है, ध्यान रखने से है; उसको ही सर्वस्व मानने से है; उसी में पूर्णतः समर्पित हो जाने से है । यही निज भगवान आत्मा की उपासना की विधि है, आराधना की विधि है, साधना की विधि है ।

निज भगवान आत्मा की यह उपासना दो प्रकार से होती है :—

(१) साध्यभाव से और (२) साधकभाव से ।

चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक साधकदशा है और सिद्ध अवस्था साध्यदशा है । अथवा चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक साधकदशा है और अरहंत और सिद्ध दशा साध्यदशा है । पर्याय में पूर्णता की प्राप्ति हो जाना साध्यदशा है और आत्मोपलब्धि होकर पूर्णता की ओर अग्रसर होना साधकदशा है । अथवा आत्मा में उपयोग का केन्द्रित होना और फिर बाहर आ जाना — इसप्रकार बार-बार अन्दर जाना और बाहर

आना साधकदशा है और उपयोग का निरन्तर आत्मोन्मुख ही रहना, बाहर आना ही नहीं साध्यदशा है । शुभोपयोग और शुद्धोपयोग में झूलना साधकदशा है और शुद्धोपयोग में अनन्तकाल तक के लिए समा जाना साध्यदशा है।

आत्मा की सिद्धदशा अमल भी है और अचल भी है; परन्तु अरहंत अवस्था अमल तो है, पर अचल नहीं; क्योंकि उसमें योग के निमित्त से आत्मप्रदेशों में चंचलता पाई जाती है, चलाचलपना पाया जाता है । इस दृष्टि से विचार करें तो अकेली सिद्धदशा ही साध्यभाव है, आत्मज्ञानी की शेष सभी दशाएँ साधकभाव में आती हैं ।

पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हो जाने से, अमलता प्राप्त हो जाने से तथा उपयोग के निरन्तर आत्मसन्मुख ही रहने से, निरन्तर शुद्धोपयोगी होने से जब अरहंत भगवान को भी साध्यदशा में ले लेते हैं तो फिर उसके पहले के धर्मात्मा जीव साधकदशा वाले कहे जाते हैं ।

उपयोग का आत्मसन्मुख होना ही आत्मा की सच्ची उपासना है । जब वह उपयोग निरन्तर आत्मसन्मुख होता है तो उस उपासना को साध्यभाव की उपासना कहते हैं और जब वह कभी-कभी आत्म-सम्मुख होता है तो उसे साधकभाव की उपासना कहते हैं । पर एक बात तो निश्चित ही है कि आत्मा की उपासना तो आत्मसन्मुख होने में ही है, आत्मज्ञान में ही है, आत्मध्यान में ही है, अपने में अपनापन स्थापित करने में ही है । इन्हीं का नाम निश्चयरत्नत्रय है — निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान और निश्चय-सम्यक्चारित्र है। तात्पर्य यह है कि निश्चयसम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति ही निज भगवान आत्मा की उपासना है, निज भगवान आत्मा की आराधना है, निज भगवान आत्मा की साधना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है । इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि निरन्तर आत्मध्यान की दशा ही साध्यभाव की उपासना है और कभी-कभी आत्मध्यान की दशा का होना, साधकभाव की उपासना है ।

आत्मा के कल्याण के इच्छुक पुरुषों को, चाहे वे साध्यभाव से उपासना करें या साधकभाव से उपासना करें, पर उपासना तो नित्य निज भगवान आत्मा की ही करना चाहिए ।

यह निज भगवान आत्मा की उपासना ही आत्मा की शरण में जाना है। उक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी की भावना भायी है । उक्त गाथाएँ मोक्षपाहुड की १०४ एवं १०५वीं गाथाएँ हैं और उसके ठीक पहले १०३वीं गाथा में आचार्य कहते हैं :–

"णविएहिं जं णविज्जई झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥

हे भव्यजीवो ! जिनको सारी दुनिया नमस्कार करती है, वे भी जिनको नमस्कार करें; जिनकी सारी दुनिया स्तुति करती है, वे भी जिनकी स्तुति करें एवं जिनका सारी दुनिया ध्यान करती है, वे भी जिनका ध्यान करें;– ऐसे इस देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा को जानो ।"

वंदनीय पुरुषों द्वारा भी वंदनीय, स्तुति योग्य पुरुषों द्वारा भी स्तुत्य एवं जगत के योग्यपुरुषों द्वारा भी ध्येय पुरुषों का भी ध्येय यह भगवान आत्मा ही शरण में जाने योग्य है – यह जानकर ही आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है । पंचपरमेष्ठी भगवन्तों ने भी जिसकी शरण को ग्रहण कर रखा है और रत्नत्रय धर्म भी जिसकी शरण का ही परिणाम है; उस भगवान आत्मा को ही जानने की प्रेरणा दी गई है इस गाथा में । उसे ही जानने-पहिचानने का आदेश दिया है आचार्य भगवन्त ने और उसी में जम जाने, रम जाने का उपदेश आता है तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में ।

यह बात द्वादशांगरूप दिव्यध्वनि का सार है, यही बात लाख बात की बात है, और यही कोटि ग्रन्थों का सार है । जैसा निम्नांकित पंक्तियों में कहा गया है :–

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द निज आतम ध्याओ ॥[१]

× × ×

कोटि ग्रंथ को सार यही है ये ही जिनवाणी उचरो है ।
दौल ध्याय अपने आतम को मुक्ति रमा तोय वैग वरै है ॥[२]

उक्त पंक्तियों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि अधिक बात करने से क्या लाभ है, लाख बात की बात तो यह है कि जगत के दन्द-फन्द प्रपंचों को छोड़कर एक निज भगवान आत्मा का ही ध्यान धरो। उक्त पंक्ति में प्रकारान्तर से यह भी कह दिया गया है कि एक आत्मा के ध्यान के अतिरिक्त जो भी है, वह सभी दन्द-फन्द ही हैं ।

करोड़ ग्रंथों का सार भी यही है और सम्पूर्ण जिनवाणी में भी यही आया है, सम्पूर्ण जिनागम में भी यही कहा गया है कि अपने आत्मा का ध्यान धरो । यदि तुम ऐसा कर सके तो मुक्तिरूपी कन्या अतिशीघ्र ही तुम्हारा वरण करेगी, तुम्हारे गले में वरमाला डाल देगी ।

मुक्तिरूपी कन्या प्राप्त करने के लिए तुम्हें मुक्तिरूपी कन्या का ध्यान धरने की आवश्यकता नहीं है, तुम तो स्वयं का ध्यान धरो । निज भगवान आत्मा को ही ज्ञान का ज्ञेय बनाओ, ध्यान का ध्येय बनाओ; मुक्तिरूपी कन्या स्वयं उपस्थित होकर तुम्हारा वरण करेगी, तुम्हारे गले में वरमाला डालेगी।

मुक्तिरूपी कन्या उनका वरण नहीं करती है, जो उसका ध्यान धरते हैं, किन्तु उनका ही वरण करती है, जो निज भगवान आत्मा का ध्यान धरते हैं । वह आत्मा पर रीझने वालों पर ही रीझती है । तात्पर्य यह है कि मुक्ति मुक्ति का ध्यान धरने वालों को प्राप्त नहीं होती, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का ध्यान धरने वालों को ही प्राप्त होती है । इसीलिए

१. पंडित दौलतराम : छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ९
२. पंडित दौलतराम : भजन की पंक्ति

इन गाथाओं में निज भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है ।

एक युवक जीवनसाथी बनाने के लिए एक युवती को देखने गया । दोनों ही अत्यन्त सुन्दर और सबप्रकार से सुयोग्य थे । एक-दूसरे को देखकर दोनों ही एक-दूसरे पर मोहित हो गये । यद्यपि दोनों ने ही एक-दूसरे को पसन्द कर लिया था, पर कुछ देर तक कोई कुछ नहीं बोला।

भारतीय युवतियाँ तो सहज संकोची होती ही हैं । अतः पहले लड़की के बोलने का तो कोई सवाल ही नहीं था, पर युवक भी उसकी सुन्दरता देखकर स्तब्ध-सा रह गया । वह उस युवती पर आवश्यकता से अधिक रीझ गया था । अतः उसके हृदय में आशंकाओं के बादल मंडराने लगे। वह सोचने लगा – यह तो बहुत ही सुन्दर है, मुझे तो यह पूर्णतः पसन्द आ गई है, पर कहीं ऐसा न हो जाये कि यह मुझे नापसन्द करदे। यदि इसने मुझे नापसन्द कर दिया तो मेरा तो जीना ही मुश्किल हो जावेगा ।

वह इस भय से आक्रांत हो गया कि कहीं यह मुझे अस्वीकार न कर दे। हीन भावना से ग्रस्त वह उससे और कोई बात न कर व्याकुल होकर यह पूछने लगा – "मैं तुम्हें पसन्द आया या नहीं ?"

स्वभाव से ही संकोची भारतीय ललना कुछ भी न बोल सकी तो उसकी आशंका और भी प्रबल हो उठी; अतः वह और भी अधिक दीन हो गया और अत्यन्त मायूसी से कहने लगा –

"क्या मैं तुम्हें सचमुच ही पसन्द नहीं आया ?"

उसके बार-बार पूछने पर भी वह लड़की हाँ या ना तो न कह सकी, पर नीची निगाह किये हुये ही धीरे से बोली –

"क्या मैं आपको पसन्द आ गई हूँ ?"

"हाँ, हाँ; एकदम । तुम तो देवांगनाओं से भी सुन्दर हो, पर मैं तुम्हें पसन्द आया या नहीं ?" – एकदम अस्त-व्यस्त-सा युवक बोला, पर लड़की नीची निगाह किए मात्र मुस्कुरा कर ही रह गई ।

सुसभ्य एवं सुसंस्कृत भारतीय कन्यायें अपनी सहमति इसप्रकार ही व्यक्त करती हैं । मौनं सम्मति लक्षणम् – मौन सम्मति का ही लक्षण है – इस बात को जानने वाले विवेक के धनी तो सब समझ ही जाते हैं, पर आकुल-व्याकुल वह युवक कुछ भी न समझ सका, अपितु उसकी आशंका और भी अधिक प्रबल हो उठी । अतः घबड़ाकर वह उसके हाथ-पैर जोड़ने लगा और कहने लगा कि तुम मुझे अस्वीकार न कर देना, अन्यथा मेरा जीना ही मुश्किल हो जावेगा ।

उसकी यह व्याकुलता देखकर कन्या उससे विरक्त हो गई; क्योंकि उसे तो ऐसा पति चाहिए था कि जिसकी वह विनय करे, पर यहाँ तो उल्टा ही होने लगा था ।

जिसप्रकार ऐसे हीन व्यक्तित्व के धनी पुरुषों को भारतीय ललनाएं पसन्द नहीं करती, उसीप्रकार मुक्ति पर्याय पर भी इस सीमा तक रीझनेवालों को मुक्ति नहीं मिलती । जिसप्रकार अपने पौरुष से गौरवान्वित पुरुषों के गले में ही सुयोग्य कन्यायें वरमाला डालती हैं, उसीप्रकार भगवान स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है।

जो व्यक्ति मोक्ष अर्थात् सिद्धदशा की सुखकरता-सुन्दरता देखकर-जानकर उसकी महिमा से इतने आक्रांत हो जाते हैं कि उन्हें अपना स्वभाव ही तुच्छ भासित होने लगता है; वे उस युवक के समान हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं और मुक्ति (सिद्धदशा) की कामना में पंचपरमेष्ठी के सामने गिड़गिड़ाने लगते हैं – ऐसे लोगों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती ।

दीन-हीन व्यवहार में लीन पुरुषों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती । इस बात को बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं :–

"लीन भयौ विवहार में उकति न उपजै कोइ ।
दीनभयौ प्रभु पद जपै मुकति कहाँ सौं होइ ॥१"

इसीकारण आचार्य कुंदकुंद भी उक्त गाथाओं में अन्य सब विकल्पों को तोड़कर निज भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात करते हैं ।

वे कहते हैं कि जब पंचपरमेष्ठी पद और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आतमा की ही अवस्थायें हैं तो फिर हम आत्मा की ही शरण में क्यों न जायें, यहाँ-वहाँ क्यों भटकें ?

अरे भाई, पर भगवान या पर्यायरूप भगवान की शरण में जाने-वाले भगवानदास बनते हैं, भगवान नहीं । यदि स्वयं ही पर्याय में भगवान बनना हो तो निज भगवान आत्मा की ही शरण में जाना होगा, उसे ही जानना-पहिचानना होगा, उसमें ही अपनापन स्थापित करना होगा, उसका ही ध्यान धरना होगा, उसमें ही समा जाना होगा – इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए ।

इसप्रकार इन गाथाओं में भगवान बनने की विधि भी बता दी गई है।

सभी आत्मार्थी भाई-बहिन निज भगवान आत्मा की शरण में जाकर, निज आत्मा में ही जमकर-रमकर अनन्तसुखी हों —इस मंगल भावना से विराम लेता हूँ ।

भेद-विज्ञान

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेद-विज्ञान कहा जाता है, तथापि जिसे खोजना है उसी में खो जाना ही वास्तविक भेद-विज्ञान है अर्थात् निज-अभेद में खो जाना, समा जाना ही भेद-विज्ञान है ।

भेद-विज्ञानी जीव की दृष्टि अविकृत होती है । वह आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आदि भेदों में अनुभव करता है । अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता ।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ – १२९

---

१. नाटक समयसार निर्जराद्वार, छन्द २२

८

जैनभक्ति और ध्यान

इस वर्ष की यह विदेश यात्रा १३ जून, १९९१ से अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन डी. सी. से आरम्भ हुई । प्रति वर्ष की भांति इस वर्ष भी वहाँ १३ जून से १७ जून, १९९१ तक शिविर आयोजित था । इस शिविर में सब-कुल मिलाकर १४ घंटे के कार्यक्रम चले, जिसमें प्रवचन और चर्चा सभी शामिल हैं । सभी के टेप तैयार किए गये । समयसार की प्रमुख गाथाओं के अतिरिक्त आत्मा की पहिचान, सम्यग्दर्शन, सात तत्त्व एवं शाकाहार प्रमुख विषय थे ।

इसके बाद १८ जून से २१ जून तक का अटलान्टा का कार्यक्रम था, जहाँ विभिन्न स्थानों पर एवं विभिन्न विषयों पर एक-एक घंटे के चार व्याख्यान हुये तथा सर्वत्र ही एक-एक घंटे की तत्त्व-चर्चा भी हुई । पहले दिन संतोष कोठारी के घर शाकाहार पर, दूसरे दिन कुशलराजजी के घर आत्मा की पहिचान पर, तीसरे दिन डॉ. कीर्तिशाह के घर ध्यान पर एवं चौथे दिन डॉ. महेन्द्र दोशी के घर ध्यान की विधि पर व्याख्यान हुआ ।

इसके बाद २२ जून से २५ जून तक चार दिन का कार्यक्रम टोरन्टो में था । २२ जून, शनिवार का कार्यक्रम जैन मन्दिर में रखा गया था, पर २३ जून, रविवार का कार्यक्रम एक विशाल बगीचे में रखा गया था, साथ में पिकनिक का कार्यक्रम भी था । अतः उपस्थिति बहुत अच्छी थी, लगभग ५00 भाई-बहिन होंगे । वहाँ शाकाहार पर प्रभावी प्रवचन हुआ। शेष दो दिन के प्रवचन मन्दिरजी के हॉल में ही रखे गये थे । प्रवचन के विषय लगभग अटलान्टा के समान ही थे । तत्त्व-चर्चा भी प्रवचन के बाद होती ही थी ।

इसके बाद २६ जून से २९ जून, शनिवार तक का चार दिन का कार्यक्रम डिट्रोयट का था । यहाँ आरम्भ के दो दिन अनन्त कोरड़िया के घर पर

एवं अन्तिम दो दिन हॉल में प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम हुए । यहाँ अन्य विषयों के अतिरिक्त पंचलब्धि विषय पर अत्यन्त गंभीर एवं मार्मिक प्रवचन एवं चर्चा हुई; जिसने अपना अलग ही प्रभाव छोड़ा । अनन्त कोरड़िया और अशोक जैन की प्रेरणा इसके मूल में थी । वे इस विषय की गहराई समझना चाहते थे ।

इसके बाद डलास पहुँचे, जहाँ ३० जून से २ जुलाई तक कार्यक्रम थे। यहाँ तीनों प्रवचन जैन मन्दिर के हॉल में ही हुए । प्रवचन और चर्चा के विषय लगभग पूर्ववत् ही थे । सभी कार्यक्रम बहुत ही अच्छे रहे ।

इस वर्ष हमारे पास समय बहुत कम था और अनेक नगरों के आमंत्रण होने से दबाव बहुत अधिक था । अतः बहुत प्रयास के बाद भी मियामी को समय नहीं दिया जा सका । अतः वहाँ के लोगों में तीव्र असंतोष व्याप्त था ।

जब हम वाशिंगटन डी. सी. पहुँचे तो उनके फोन आना आरंभ हो गये। हमने उन्हें बहुत समझाया, आगामी वर्ष आने का पक्का आश्वासन दिया, पर वे कुछ भी सुनने को तैयार न थे । उनकी एक ही रट थी कि उन्हें समय अवश्य मिलना चाहिए । जब वे किसी भी रूप में कुछ भी मानने को तैयार न हुये तो हमने विचार कर उत्तर देने का आश्वासन दिया ।

आश्वासन तो दे दिया, पर जब कार्यक्रम का गहराई से पुनरावलोकन किया तो वह एकदम सघन (टाइट) था, कहीं कोई गुंजाइश न थी । अतः यही सोचा गया कि सानफ्रांसिस्को में होने वाले जैना (जैन एसोसियेशन इन नार्थ अमेरिका) के द्विवार्षिक सम्मेलन में न जाकर वह समय मियामी को दे दिया जाए तो कोई हानि नहीं होगी; क्योंकि जैना के सम्मेलन का जो कार्यक्रम छपा था, उसमें बहुत वक्ताओं के इकट्ठे हो जाने से हमारा कार्यक्रम मात्र २० मिनट का ही था । लगभग सभी वक्ताओं की यही स्थिति थी।

हमने सोचा कि वहाँ तो वक्ताओं की कोई कमी नहीं है । अतः यदि हम न भी गये तो कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं है । हो सकता है कि किसी का इस ओर ध्यान ही न जाए और २० मिनट के लिए हमारा चार दिन का समय यों ही चला जायेगा । यदि वह समय मियामी को दे दिया जाए तो समय का पूरा-पूरा उपयोग होगा । यह सोचकर हमने वह समय मियामी को दे दिया ।

जब इस बात का पता जैनावालों को चला तो उनके फोन पर फोन आने लगे । उन्हें सम्पूर्ण स्थिति से अवगत कराया गया, पर वे कुछ भी सुनने को तैयार न थे । उनका कहना था कि हमने आपकी स्वीकृति लेकर ही आपका नाम छापा है । अब हम आपके नाम पर आने वाली जनता को क्या उत्तर देंगे ? अभी आपको यह पता नहीं है कि आपको चाहने वाले अमेरिका में भी कितने लोग हो गये हैं ? यहाँ अमेरिका के प्रमुख नगरों एवं सुदूरवर्ती यूरोप आदि से अनेक लोग पधार रहे हैं । इस सम्मेलन में लगभग तीन हजार प्रतिनिधि शामिल हो रहे हैं, जो सम्पूर्ण अमेरिका का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

आप प्रत्येक नगर तो जा नहीं सकते, पर सभी स्थानों के प्रमुख लोग आपको यहाँ सुन सकते हैं । हमारी योजनाओं में आपका महत्त्वपूर्ण परामर्श भी हमें प्राप्त हो सकता है ।

आपका यह सोचना भी सही नहीं है कि आपको मात्र २० मिनट ही बोलना है; क्योंकि २० मिनट तो मुख्य कार्यक्रम में हैं । अन्य कार्यक्रमों में आपका भरपूर उपयोग किया जाएगा ।

जैना के वरिष्ठ उपाध्यक्ष डॉ. जगत जैन ने हमसे लगभग एक घंटे फोन पर बात की । हमने उन्हें भी आश्वासन दिया कि देखो मैं सोचता हूँ कि अब इस संदर्भ में क्या किया जा सकता है ?

अब तो सबकुछ मियामी वालों के हाथ में ही था; क्योंकि यह समय उन्हें ही दिया गया था; अतः उनसे सम्पर्क किए बिना कुछ भी संभव नहीं था ।

हमने उन्हें फोन किया और सम्पूर्ण स्थिति समझाकर इस बात के लिए राजी करने का प्रयास किया कि वे आधा समय जैना के सम्मेलन को दे दें। यद्यपि वे कार्यक्रमों का भरपूर प्रचार कर चुके थे; अतः कठिनाई तो थी ही, तथापि उन्होंने हमारी बात नहीं टाली ।

इसप्रकार जैना के सम्मेलन का कार्यक्रम बन गया और हम दो दिन मियामी में रुककर सान्फ्रासिस्को को रवाना हो गये । मियामी में तीन प्रवचन हुए, जिनमें एक प्रवचन आत्मानुभूति पर और दो प्रवचन उत्तम क्षमा, मार्दव और संयम धर्म पर हुये ।

मियामी में श्री भूपतभाई शाह को हमारे साहित्य को अमेरिका व यूरोप के देशों में प्रचारित करने की भावना इतनी प्रबल हुई कि उन्होंने स्वयं की प्रेरणा से ही हमारे जयपुर कार्यालय को धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, नो दाई सेल्फ, अहिंसा, तीर्थंकर भगवान महावीर आदि पुस्तकों के अंग्रेजी संस्करणों की एक-एक हजार प्रतियाँ भेजने का लिखित आदेश भेजा और उन स्थानों के पते भी लिख कर भेजे, जहाँ वे यह पुस्तकें भेजना चाहते हैं। उनका लिखना है कि पुस्तकें सीधी भेज दी जाएं और बिल उन्हें मियामी भेजा जाए।

इसीप्रकार उन्होंने कुछ गुजराती पुस्तकें भी जगह-जगह भिजवाई हैं।

सान्फ्रासिस्को में जैना के सम्मेलन में हम मात्र २८ घंटे ही रहे, पर इन अट्ठाईस घंटों में ही हमारे विभिन्न विषयों पर चार व्याख्यान हुए; एक मुख्य हॉल में और तीन विभिन्न कक्षा हॉलों में । सभी व्याख्यान प्रभावक रहे ।

यहाँ पहुँचकर हमें अनुभव हुआ कि सम्मेलन का कार्यक्रम निरस्त करना सही नहीं था; क्योंकि यहाँ अनेकानेक पूर्व परिचित प्रमुख लोगों का समागम तो हुआ ही; अनेकानेक नये लोगों से मिलना भी हुआ । इस अवसर पर अनेक नये आध्यात्मिक श्रोता भी तैयार हुए ।

जैना निश्चित रूप से निरन्तर प्रगति कर रहा है । इसके पहले भी हम उसके दो द्विवार्षिक सम्मेलनों में शामिल हो चुके हैं – एक शिकागो में और दूसरा टोरन्टो में । उनकी तुलना में इस सम्मेलन को देखकर यह कहा जा सकता है कि जैना अपने काम में निरन्तर गतिशील है ।

यहीं पर भाई बलभद्र भी मिले । वे जैनदर्शन के गहरे अध्ययन के लिए श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में चार माह के लिए आना चाहते थे । उन्होंने आने की भावना व्यक्त की तो हमने कहा–

"कहते तो हमेशा ही रहते हो, पर आते तो हो नहीं । कोरी बातों में हमारा विश्वास नहीं है । हमारा तो तुम्हें स्थाई आमंत्रण है, जब भी आना चाहो आ सकते हो ।"

दृढ़ निश्चय व्यक्त करते हुए वे बोले –

"नहीं, ऐसी बात नहीं है; अबकी बार तो हर हालत में आना ही है।"

हमने कहा, "यदि यह सच है तो आप अवश्य पधारिये । हम आपके अध्ययन, आवास एवं भोजन-पानी आदि की व्यवस्था अपनी ओर से करेंगे; बस आपको तो मात्र आना ही है ।"

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वे जयपुर आ गये थे और साढ़े चार माह रहकर १५ जनवरी, १९९२ को वापिस गये हैं । वे जैनदर्शन और जिन-अध्यात्म के रहस्यों को जानकर अत्यन्त प्रफुल्लित थे और समय-समय पर अपनी भावना भी व्यक्त करते रहते थे ।

इस साढ़े चार माह में यहाँ बालबोध पाठमाला भाग १-२-३, वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १-२-३, तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १-२, द्रव्यसंग्रह, जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, क्रमबद्धपर्याय, सर्वार्थसिद्धि एवं समयसार का गहरा अध्ययन वे कर चुके हैं । जे. एल. जैनी एवं ए. चक्रवर्ती दोनों के ही समयसार के अंग्रेजी अनुवादों का अध्ययन किया है । अतः समयसार

का अध्ययन दो बार हो चुका है । उनकी भावना आगामी वर्ष भी अध्ययन के लिए यहाँ आने की है ।

हमें जो भाई सान्फ्रांसिस्को में हवाई अड्डे पर लेने आये थे, वे हमसे पूर्णतः अपरिचित थे, हम भी उन्हें नहीं जानते थे । यद्यपि वे अध्यात्मिक रुचि के अन्तर्मुखी व्यक्ति थे और हम भी सान्फ्रांसिस्को सातवीं बार पहुँच रहे थे; तथापि न जाने क्यों वे हमसे अपरिचित रह गये थे । हमें उनके यहाँ ही ठहरना था । उन्होंने हमें हमारी वेशभूषा से ही पहिचाना ।

उन्होंने हमें रास्ते में ही बताया कि उन्होंने जैनावालों को कहा था कि हमारे यहाँ किसी आध्यात्मिक व्यक्ति को ही ठहराना ।

जब जैनावालों ने उन्हें हमारा नाम बताया तो अपरिचित होने से पहले तो वे अचंभित रह गये, पर बाद में उन्हें कुछ याद आया कि यह नाम तो परिचित-सा लगता है । उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि इनकी किसी पुस्तक को मैंने अवश्य पढ़ा है ।

अतः उन्होंने अपने पुस्तकालय को देखा तो उन्हें याद आ गया कि नियमसार पर लिखी गई मेरी प्रस्तावना का स्वाध्याय उन्होंने कुछ ही दिन पूर्व किया था । उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता से अपनी पत्नी शारदा बैन को यह बात बताई कि अपने यहाँ नियमसार की प्रस्तावना के लेखक ठहरने आ रहे हैं और उसीसमय उस प्रस्तावना को पत्नी के साथ बैठकर दुबारा पढ़ा । यह बात बताकर उन्होंने रास्ते में ही कुछ आध्यात्मिक रहस्य जानने की भावना व्यक्त की । यह जानकर हमें भी अत्यंत प्रसन्नता हुई कि हम उस व्यक्ति के घर में ठहरने जा रहे हैं, जिसके घर में नियमसार जैसा परमाध्यात्मिक शास्त्र विराजमान है और वह उसका स्वाध्याय भी करता है।

उनका नाम अरविन्द भाई था । जब उन्होंने जैना के सम्मेलन में हुए हमारे सभी व्याख्यान सुने तो उनका वात्सल्य शतगुणा वृद्धिंगत हो गया।

उन्होंने हमसे कहा कि मैं आपसे क्रमबद्धपर्याय समझना चाहता हूँ; अतः आपको मेरे घर पर दो-तीन दिन और ठहरना होगा । पर आगे के कार्यक्रम सुनिश्चित होने से यह सब संभव नहीं था; पर वे कुछ मानने को तैयार ही न थे; अतः असंभव को संभव बनाने में जुट गये और उनकी भावना सफल भी हो गई ।

लासएंजिल्स से ३५ व्यक्ति जैना के सम्मेलन में भाग लेने लाये थे। हमें उन्हीं के साथ कार द्वारा लासएंजिल्स जाना था । वहाँ से कार का रास्ता दस-ग्यारह घंटे का था । घूमते हुए जाने के कारण एक दिन से अधिक समय लगने की संभावना थी । अतः लासएंजिल्स के कार्यक्रम में इसीप्रकार की गुंजाइश रखी गई थी ।

इसका लाभ उठाते हुए उन्होंने कहा कि यह समय हमें दे दिया जाए, हम आपको प्लेन से यथासमय लासएंजिल्स पहुँचा देंगे । इसप्रकार उन्होंने डेढ़ दिन का समय प्राप्त कर लिया ।

इतने से समय में भी उन्होंने ७ घंटे के प्रवचन व तत्त्वचर्चा के कार्यक्रम कराये । लाभ लेने के लिए शताधिक व्यक्तियों को आमंत्रित किया। सभी लोग पूरे दिन लाभ ले सकें – इस भावना से उनके भोजन की व्यवस्था भी स्वयं अपने घर पर ही की । सभी कार्यक्रमों के वीडियो और ओडियो कैसेट तैयार किये । उनकी कॉपियाँ कर अनेक लोगों तक पहुँचाईं, एक-एक कॉपी हमें भी प्रदान की ।

इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय का सर्वांग विवेचन तो हुआ ही, चर्चा भी भरपूर हुई । उनकी रुचि तीव्र और मार्ग में व्यर्थ बर्बाद होनेवाले समय का इतना सुन्दर सदुपयोग देखकर हमारा चित्त भी प्रफुल्लित था; अतः इतना अधिक बोलने पर हमें कोई थकान का अनुभव नहीं हुआ ।

सान्फ्रांसिस्को से ८ जुलाई, १९९१ को लासएंजिल्स पहुँचे । वहाँ चार दिन का कार्यक्रम था । चारों ही दिन शाम के प्रवचन जैनमंदिर के विशाल

हॉल में रखे गये थे । प्रवचनों के विषय पूर्ववत ही थे और उपस्थिति भी अच्छी रहती थी ।

लासएंजिल्स में जयश्री बैन एवं नरेशभाई पालकीवाला के घर पर ठहरे थे । नरेशभाई तत्त्वप्रेमी तो हैं ही, स्वाध्यायी व्यक्ति भी हैं । अतः उन्होंने स्वयं के घर व गिरीशभाई के घर पर एवं रमेश खण्डार के घर पर दोपहर में एक-एक दिन चर्चा के कार्यक्रम भी रखे थे, जिसमें अनेक लोग अपने कार्य से अवकाश लेकर उपस्थित होते थे और निमित-उपादान आदि विषयों पर गंभीर चर्चा होती थी ।

लासएंजिल्स से १२ जुलाई, १९९१ को शिकागो पहुँचे । यहाँ एक प्रवचन हॉल में, दो प्रवचन निरंजनभाई के घर पर एवं एक प्रवचन विजयभाई के घर पर हुआ । विषय लगभग पूर्ववत ही रहे, चर्चा भी अच्छी हुई। यहाँ टी.वी. वालें भाई आये थे । उन्होंने टी.वी. पर देने के लिए प्रवचन के आवश्यक अंशों की फिल्म बनाई, साथ में हमारा इन्टरव्यू भी लिया जिसमें जैनदर्शन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त की, जिसे वे अमेरिका के किसी चेनल से प्रसारित करने वाले हैं ।

शिकागो से १७ जुलाई, १९९१ को वोस्टन पहुँचे, जहाँ १९ जुलाई तक रहे । प्रतिदिन मंदिर के हॉल में प्रवचन चर्चा के प्रभावक कार्यक्रम हुए। इन्दुबेन रतिभाई ढोड़िया के घर पर भी एक प्रवचन रखा गया । २० जुलाई को न्यूयार्क आ गये, जहाँ एक प्रवचन डॉ. धीरूभाई के घर पर व एक प्रवचन मन्दिरजी में रखा गया । तत्त्वचर्चा भी रखी गई । सभी कार्यक्रम बहुत अच्छे रहे ।

न्यूयार्क से २४ जुलाई को लन्दन आ गये, जहाँ लक्ष्मीचंदभाई भगवानजीभाई के घर पर ठहरे और छह दिन तक प्रतिदिन सायं हॉल में प्रवचन व चर्चा के कार्यक्रम रखे गये । यहाँ दो प्रवचन तो उस विशाल हॉल में रखे गये थे, जो अफ्रीका से आई हुई वीसा ओसवाल जैन समाज ने १०७ एकड़ जमीन लेकर बनाया है और जहाँ एक विशाल जैन मन्दिर

निर्माणाधीन है । ये प्रवचन वीसा ओसवाल जैन समाज ने ही आयोजित किये थे और इनमें मुमुक्षु भाइयों के अतिरिक्त उनमें से भी सैंकड़ों लोग आये थे ।

भगवानजीभाई के घर पर प्रातः भी चर्चा व प्रवचन के कार्यक्रम रहे थे।

इसप्रकार अमेरिका व यूरोप में अनेक प्रकार से धर्मप्रभावना करते हुए ३१ जुलाई, १९९१ को जयपुर आ गये; क्योंकि यहाँ ४ अगस्त, १९९१ से आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर आरंभ था ।

इस वर्ष शाकाहार के अतिरिक्त जिस विषय का प्रतिपादन लगभग सर्वत्र ही हुआ, वह मूलतः इसप्रकार है :—

विश्व में जितने भी धर्म हैं, उनमें अधिकांश यह मानते हैं कि जगत में कोई एक ऐसी ईश्वरीय सत्ता है, जिसने इस जगत को बनाया है और वही इस जगत का नियंत्रण भी करती है । उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता । इस सन्दर्भ में जैन-दर्शन की मान्यता एकदम स्पष्ट है कि ऐसी कोई सत्ता इस जगत में नहीं है, जो इस जगत का नियंत्रण करती हो, जिसने इसे बनाया हो या जो इसका विनाश कर सकती हो ।

जैनदर्शन की यह एक ऐसी विशेषता है कि जो उसे विश्व के अन्य दर्शनों से अलग एवं स्वतंत्र दर्शन के रूप में स्थापित करती है ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन दर्शनों में ईश्वर को जगत का कर्त्ता-धर्त्ता-नियत्ता स्वीकार किया गया है, उनमें तो उसकी भक्ति विविध प्रकार से की जाती है और की भी जानी चाहिये; क्योंकि सबकुछ उसकी कृपा पर ही निर्भर है, वही दुष्टों को दण्ड देता है और सज्जनों की संभाल करता है; भक्तों को अनुकूलता प्रदान करता है और विरोधियों का निग्रह करता है; पर जिस दर्शन में ऐसे किसी भगवान की सत्ता स्वीकार नहीं की गई हो, उसमें भक्ति की क्या उपयोगिता हो सकती है ? फिर भी

जैन लोग भी पूजा-पाठ करते हैं, भक्ति करते हैं, उनके यहाँ भक्ति साहित्य भी है। इस सबका क्या औचित्य है ?

जैनदर्शन में निःस्वार्थ भाव की भक्ति है । उसमें किसी भी प्रकार की कामना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है । जैनदर्शन के भगवान तो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं । वे किसी को कुछ देते नहीं हैं, मात्र सुखी होने का मार्ग बता देते हैं । जो व्यक्ति उनके बताये मार्ग पर चले, वह स्वयं भगवान बन जाता है । अतः जिनेन्द्र भगवान की भक्ति उन जैसा बनने की भावना से ही की जाती है । जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण से स्पष्ट है ।

मोक्षमार्गस्य नेत्तारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले हैं और विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले हैं; अर्थात् जो हितोपदेशी, वीतरागी और सर्वज्ञ हैं; उक्त गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

उक्त छन्द में भगवान के गुणों को स्मरण करते हुए मात्र भगवान बनने की भावना व्यक्त की गई है; भगवान से कुछ करने की प्रार्थना नहीं की गई है, न ही उनसे कुछ मांगा गया है ।

जैनदर्शन में भगवान की वीतरागता पर सबसे अधिक बल दिया गया है। जब कोई आत्मा अरहंत बनता है तो सबसे पहले वह वीतरागी होता है, उसके बाद सर्वज्ञ और उसके भी बाद जब उसकी दिव्यध्वनि खिरती है, तब वह हितोपदेशी विशेषण को सार्थक करता है । इसतरह यह सिद्ध है कि वीतरागी हुए बिना सर्वज्ञता संभव नहीं है और वीतरागी-सर्वज्ञ हुए बिना हितोपदेशी होना संभव नहीं है ।

उक्त सन्दर्भ में भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति में लिखा गया निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है :—

"कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्य मनोवृत्तिः पार्श्वनाथः जिनोस्तु नः ॥

हे भगवान पार्श्वनाथ ! कमठ ने आप पर उपसर्ग किया और धरणेन्द्र ने रक्षा करने का भाव किया । उन्होंने अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार उचित ही कार्य किया; क्योंकि कमठ को आपसे द्वेष था और धरणेन्द्र को राग; और राग-द्वेष करने वालों की वृत्ति और प्रवृत्ति ऐसी ही होती है । पर हे भगवान आपकी मनोवृत्ति दोनों में समान ही रही; न तो आपने उपसर्ग करने वाले कमठ से द्वेष किया और न रक्षा के भाव करने वाले धरणेन्द्र से राग ही किया; दोनों पर समान रूप से समताभाव ही रखा; अतः आपको नमस्कार हो ।"

यहाँ यह बात कितनी स्पष्ट है कि आपने रक्षा करने वाले से राग नहीं किया और उपसर्ग करने वाले पर द्वेष नहीं किया; इसीकारण हम आपको नमस्कार करते हैं । यदि आप धरणेन्द्र से राग और कमठ से द्वेष करते तो हम आपको नमस्कार नहीं करते; क्योंकि ऐसा तो सभी संसारी जीव दिन-रात करते ही हैं और इसीकारण दुःखी भी हैं । यदि आप भी ऐसा ही करते तो आप में और उनमें क्या अन्तर रहता ?

देखो, कितना अन्तर है दोनों दृष्टिकोणों में । जहाँ एक ओर कर्त्तावादी दर्शनों में दुष्टों के दलन के लिए ही भगवान अवतरित होते हैं, भक्तों की रक्षा करने के लिए भगवान दौड़े-दौड़े फिरते हैं, 'भगवान भगत के वश में हैं – यह कहा जाता है; वहाँ अकर्त्तावादी जैनदर्शन में भगवान को पूर्ण वीतरागी रूप में ही पूजा जाता है । भक्तों का भला करना तो बहुत दूर, यदि वे उन्हें अनुराग की दृष्टि से देखें तो भी हम उन्हें भगवान मानने को तैयार नहीं हैं । इसीप्रकार दुष्टों का दलन करना तो बहुत दूर, यदि भगवान दुष्टों को द्वेष की नजर से देखें तो भी हम उन्हें भगवान मानने को तैयार नहीं हैं ।

जैनियों के भगवान तो वीतरागभाव से सहज ज्ञाता-दृष्टा होते हैं । वे जानते सबकुछ हैं, पर करते कुछ भी नहीं । उन्हें कुछ करने का विकल्प भी नहीं उठता, यदि कुछ करने का विकल्प उठे तो वे भगवान ही नहीं हैं। हित का उपदेश भी सर्वांग से खिरने वाली उनकी दिव्यध्वनि में सहज ही प्रस्फुटित होता है, वे उसमें भी कुछ करते-धरते नहीं हैं । यही है जैनियों के भगवान का सच्चा स्वरूप, पर आज हम जैनी भी उनके इस सच्चे स्वरूप को भली-भाँति कहाँ जानते हैं ? कर्त्तावादी दर्शनों की देखा-देखी हम भी उनकी स्तुति कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में ही करने लगे हैं । यह सब हमारा अज्ञान ही है । जिनवाणी में भी यदि कहीं इसप्रकार के कथन आये हों तो उन्हें भी व्यवहार का कथन समझना चाहिए । उन्हें वास्तविक कथन मानकर अपनी श्रद्धा को विचलित नहीं करना चाहिए ।

जब जैनियों के भगवान भक्तों का कुछ करते ही नहीं हैं तो फिर उनकी भक्ति लोग करेंगे ही क्यों ? आप निःस्वार्थभाव की भक्ति की बात करते हैं, पर आज निःस्वार्थभाव की भक्ति करनेवाले कितने हैं ? और निःस्वार्थभाव की भक्ति की बात स्वाभविक भी तो नहीं है, वैज्ञानिक भी तो नहीं है; क्योंकि बिना प्रयोजन तो लोक में कोई कुछ करता देखा ही नहीं जाता ।

अरे भाई ! स्वार्थपूर्ति के लिए की गई भक्ति भी कोई भक्ति है, वह तो व्यापार है; व्यापार भी हलके स्तर का । लोग भगवान के पास जाते हैं और कहते हैं कि यदि मेरे बच्चों की तबियत ठीक हो गई तो १०१ रुपये का छत्र चढ़ाऊँगा । क्या यह भक्ति है ? जब आप डॉक्टर के पास जाते हैं, तब क्या डॉक्टर से भी ऐसा ही कहते हैं कि आपकी फीस या दवा की कीमत तब दूँगा कि जब मेरे बच्चे की तबियत ठीक हो जावेगी।

तुम्हारा तो भगवान पर डॉक्टर के बराबर भी भरोसा नहीं है । यदि होता तो काम हो जाने के बाद छत्र चढ़ाने की बात कहाँ से आती?

भगवान ने कब कहा है कि तुम मुझे छत्र चढ़ाओ तो मैं तुम्हारा बच्चा ठीक कर दूँगा । ये सब अज्ञान की बातें हैं, भक्ति की नहीं । असली भक्ति तो भगवान के गुणों में अनुराग का नाम है । कहा भी है, 'गुणेष्वनुरागः भक्तिः'।

गुणों में अनुराग तो निःस्वार्थभाव से ही होता है । सच्चे भक्त भी निःस्वार्थभाव से ही भक्ति करते हैं । निःस्वार्थभाव की भक्ति वैज्ञानिक और स्वाभाविक भी है । इसे हम क्रिकेट के खिलाड़ी के उदाहरण से भली-भाँति समझ सकते हैं ।

एक व्यक्ति क्रिकेट का विश्व स्तर का बल्लेबाज बनना चाहता है । तदर्थ अभ्यास करने के लिए एक प्रशिक्षक भी रखता है, जो जेठ की दुपहरी की कड़ी धूप में साथ-साथ रहकर उसे अभ्यास कराता है; इसकारण वह उसकी समुचित विनय भी करता है; तथापि उसका चित्र अपने कमरे में नहीं लगाता है । चित्र तो वह अपने घर में विश्वप्रसिद्ध बल्लेबाजों के ही लगाता है, गावस्कर और कपिलदेव के ही लगाता है । यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्यक्ष उपकारी तो वह प्रशिक्षक ही है, पर उसका आदर्श वह प्रशिक्षक नहीं, विश्वस्तरीय बल्लेबाज हैं । उसका आदर्श वह बल्लेबाज कैसे हो सकता है, जिसका नाम रणजी ट्राफी में भी नहीं आया है, जिले की टीम में भी नहीं आया है ?

यद्यपि विश्वप्रसिद्ध बल्लेबाजों से उसका प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं है, वे उसे कुछ सिखाते नहीं हैं, बताते नहीं हैं, सिखा सकते भी नहीं हैं, बता सकते भी नहीं हैं; उनसे उनका पत्र-व्यवहार भी नहीं है, उसने उन्हें साक्षात् देखा तक नहीं है, मात्र टी.वी. पर ही देखा है; तथापि उसके हृदय में बिना किसी अपेक्षा के उनके प्रति उत्कृष्ट कोटि का बहुमान का भाव बना रहता है; क्योंकि वे उसके आदर्श हैं, उसे उन जैसा ही बनना है ।

क्या उस व्यक्ति का विश्वस्तरीय बल्लेबाजों के प्रति वह भक्ति का भाव स्वाभाविक नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है, सहज नहीं है ? यदि है तो फिर

निःस्वार्थभाव से की गई जैनियों की भक्ति सहज क्यों नहीं है, स्वाभाविक क्यों नहीं है, वैज्ञानिक क्यों नहीं है ? क्या किसी लौकिक कामना से की गई भक्ति ही स्वाभाविक होती है, सहज होती है ?

जैनदर्शन के अनुसार भगवान की भक्ति का उद्देश्य जब उन जैसा बनना ही है, तब उसके प्रति सहजभाव से भक्ति का भाव होना भी अस्वाभाविक कैसे हो सकता है ? जिनसे हमारा प्रत्यक्ष सम्पर्क है, जो हमें तत्त्वज्ञान सिखाते हैं या अन्यप्रकार से हमारा उपकार करते हैं; उनके प्रति किए गए विनयभाव के पीछे कदाचित् हमारा स्वार्थभाव भी रह सकता है; पर जिनसे हमारा कभी सम्पर्क भी न रहा हो, जो हमारा कोई कार्य भी न करते हों; उनके प्रति विनयभाव तो एकदम निःस्वार्थभाव से ही होगा न ? यही कारण है कि जैनियों की भक्ति निःस्वार्थभाव की ही भक्ति होती है और वह सहज ही होती है, स्वाभाविक ही है; इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है ।

जैनियों के भगवान विषय-कषाय और उसकी पोषक सामग्री तो देते ही नहीं, वे तो अलौकिक सुख और शान्ति भी नहीं देते; मात्र सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त करने का उपाय बता देते हैं । यह भी एक अद्भुत बात है कि जैनियों के भगवान भगवान बनने का उपाय बताते हैं । जगत में ऐसा कोई अन्य दर्शन हो तो बताओ कि जिसमें भगवान अपने अनुयायियों को स्वयं के समान ही भगवान बनने का मार्ग बताते हों । भगवान में लीन हो जाने की बात, उनकी कृपा प्राप्त करने की बात तो सभी करते हैं, पर तुम स्वभाव से तो स्वयं भगवान हो ही और पर्याय में भी भगवान बन सकते हो – यह बात मात्र जैनियों के भगवान ही कहते हैं; साथ में वे भगवान बनने की विधि भी बताते हैं ।

भगवान कहते हैं कि भाई तुम किसी अन्य परमेश्वर के प्रतिबिम्ब मात्र नहीं हो, तुम तो स्वयं परमेश्वर हो; तुम किसी के अंश भी नहीं, तुम तो स्वयं परिपूर्ण भगवान हो; तुम किसी की परिछाई भी नहीं हो, तुम स्वयं

मूलतत्त्व हो; तुम्हें किसी अन्य में लीन नहीं होना है, स्वयं में ही समा जाना है; तुम्हें किसी अन्य के प्रति समर्पित नहीं होना है, अपने में ही समर्पित हो जाना है; तुम्हारा कल्याण कोई अन्य नहीं करेगा, तुम्हें स्वयं ही अपना कल्याण करना है ।

तुम अपना कल्याण करने में पूर्णतः समर्थ हो, उसमें अन्य के सहयोग, समर्पण, सेवा, आशीर्वाद की रंचमात्र आवश्यकता नहीं है । जैनदर्शन का मार्ग पूर्ण स्वाधीनता का मार्ग है ।

देखो तो गजब की बात है न कि हमारे सबसे बड़े ग्रन्थराज तत्त्वार्थ सूत्र के पहले ही सूत्र में भगवान बनने की विधि बता दी है । ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया कि तुम इतना सीखकर आओ, इतनी साधना करो; तब तुम्हें भगवान बनने की विधि बताई जायेगी ।

क्या कहा, तत्वार्थ सूत्र में भगवान बनने की विधि नहीं बताई है, मोक्षमार्ग बताया है । अरे भाई, मोक्षमार्ग और भगवान बनने की विधि में क्या अन्तर है ? मुक्ति में जाना ही तो भगवान बनना है । जो जीव मुक्ति में पहुँच गये, वे ही तो भगवान हैं । क्या आप इतना भी नहीं जानते कि जैनियों में उन्हीं को तो भगवान कहते हैं, जो मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं । मुक्ति प्राप्त जीव ही सिद्ध भगवान हैं ।

जैनियों के भगवान किसी को अपना भक्त नहीं बनाना चाहते हैं, वे तो सभी भव्यों को भगवान बनने का ही उपदेश देते हैं । वे तो यही चाहते हैं कि सभी जीव मुक्ति के मार्ग पर चलकर भगवान बनकर सिद्धशिला में आकर उन्हीं की बगल में उनकी बराबरी से विराजमान हो जावें । जगत में आप किसी उद्योगपति या व्यापारी के पास जाओगे तो वह तुम्हें अच्छी नौकरी दे सकता है, नौकरी में तुम्हारी तरक्की कैसे होगी—इसका उपाय बता सकता है; पर तुम्हें वही उद्योग लगाने का उपदेश नहीं देगा, विधि भी नहीं बतायेगा; कहेगा यह तो हमारा बिजनिस सीक्रेट है । वह

तो यह चाहेगा भी नहीं कि आप वही उद्योग लगावें, वही व्यापार करें; पर जैनियों के भगवान सभी को भगवान बनने की ही विधि बताते हैं ।

अरे भाई, भगवान तो भगवान बनने की विधि बताते हैं, पर हम तो उनके बताये मार्ग पर नहीं चल सकते हैं न ? अतः हमारे किस काम की है वह विधि ? हमें तो कुछ ऐसा मार्ग बतावें कि जिस पर हम चल सकें ।

अरे भाई, भगवान तो यह कहते हैं कि तुम स्वयं भगवान हो और भगवान बन भी सकते हो । इसीलिए वे तुम्हें भगवान बनने की विधि भी बताते हैं, पर तुम कहते हो कि हम इस मार्ग पर चल नहीं सकते। ऐसी अनुत्साह की बात क्यों करते हो ?

कोई भी समझदार व्यक्ति पाँच लाख के हाथी से यह नहीं कहता कि एक गिलास पानी लाना, पर पाँच वर्ष की कन्या से कहता है; क्योंकि वह ला सकती है, हाथी नहीं ला सकता । जब लोक में भी कोई समझदार व्यक्ति उससे वह काम करने के लिए नहीं कहता, जो उस काम को कर नहीं सकता; अपितु उससे ही कहता है, जो कर सकता है तो क्या भगवान या आचार्यदेव तुमसे भगवान बनने की बात बिना सोचे-समझे कर रहे होंगे? क्या वे इतना भी नहीं समझते कि तुम कर सकते हो या नहीं ? भगवान बनने का कार्य तुम कर तो सकते हो, पर सबसे बड़ी बाधा तुम्हारी यही मान्यता है कि हम तो यह कार्य कर ही नहीं सकते । अतः तुम इस मान्यता को छोड़ दो और उत्साह से बात को समझो ।

अरे भाई, भगवान तुम्हें भगवान बनने की विधि बता रहे हैं और भगवान बनने की प्रेरणा भी दे रहे हैं; – यह हमारा और तुम्हारा महान भाग्य है । चक्रवर्ती की सुन्दरतम कन्या हमारे गले में वरमाला डालने को आवे और हम मुँह फेर लें तो समझ लेना चाहिये कि हमारा भाग्य ही फिर

गया है । इसीप्रकार भगवान हमें मुक्ति का मार्ग बतावें और हम मुँह फेर लें तो इससे बड़ा अभाग्य हमारा और क्या होगा ? अतः इन्कार मत करो, उनकी इस सहज सरल हितकारी बात को हम सब नतशिर होकर प्रसन्नता से स्वीकार कर लें – इस में ही हम सबका भला है ।

वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान ने हमें भगवान बनने की जो विधि बताई है, वह भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप होने से अत्यन्त सरल, सहज एवं स्वाधीन है । पर से भिन्न निज भगवान आत्मा के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, पर से भिन्न निज भगवान आत्मा के जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और पर से भिन्न निज आत्मा में जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इन तीनों में ही आश्रयभूत तत्त्व एकमात्र निज भगवान आत्मा ही है; अतः सर्वप्रथम उसे जानना अत्यन्त आवश्यक है।

हम जरा इस बात पर विचार करें कि हमारे मन्दिरों में जिनेन्द्र भगवान की जो मूर्तियाँ विराजमान हैं, वे किस मुद्रा की हैं ? जन्म से लेकर मोक्ष जाने तक तो उनके जीवन में एक से एक अच्छी अनेक मुद्रायें आई होंगी, पर हमने उनकी ध्यान मुद्रा ही क्यों चुनी ?

हमारे घरों में हमने अपनी तस्वीरें भी लगा रखी हैं, पर वे सभी हमारी रागमुद्राओं की तस्वीरें ही हैं । शादी-विवाह की पति-पत्नी की जोड़े से सजी-संवरी तस्वीरें ही अधिकाश घरों में लटकी मिलेंगी । तीर्थंकरों की भी शादियाँ हुई थीं । उनकी भी वैसी मुद्रायें क्यों नहीं बनाई गई मूर्तियों में; जबकि अन्य धर्मों में ऐसा होता भी है । राम-सीता, शंकर-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी की मूर्तियाँ इसीप्रकार की बनाई जाती हैं । पर जैन तीर्थंकरों की सभी मूर्तियां ध्यान मुद्रा में ही क्यों मिलती हैं ?

जब इस बात पर गम्भीरता से विचार करते हैं तो एक बात अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देती है कि ध्यान चारित्र का सर्वोत्कृष्ट रूप है, ध्यान अवस्था में ही केवलज्ञान होता है, अनन्तसुख प्रगट होता है; अनन्तवीर्य की प्राप्ति

भी ध्यानावस्था में ही होती है । अतः ध्यान मुद्रा ही धर्ममुद्रा है, सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है ।

ध्यान सर्वश्रेष्ठ है, पर किसका ध्यान ? अपने आत्मा का, पर का नहीं, परमात्मा का भी नहीं । निज भगवान आत्मा के ध्यान से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है । आज तक जितनी भी आत्माओं को सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई है, उन सभी को निज भगवान आत्मा के ध्यान से ही हुई और भविष्य में भी जिन्हें सर्वज्ञता की प्राप्ति होगी, वह भी निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होनेवाली है । अतः आत्मध्यान ही धर्म है ।

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है । इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है । इसप्रकार आत्मध्यान रूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही । अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है । इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसीसमय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एकनाम आत्मानुभूति है ।

जब यह आत्मानुभूति प्रगट होती है, तब विषय-कषाय की रुचि तो समाप्त हो ही जाती है, साथ में अनुभूति की सघनता के अनुपात में विषय-कषाय की वृत्ति और प्रवृत्ति भी कम होती जाती है । जब इस अनुभूति का वियोग काल अन्तर्मुहूर्त से भी कम रह जाता है तो साधु दशा प्रगट हो जाती

है और जब यह अनुभूतिरूप सघन आत्मध्यान की दशा लगातार अन्तर्मुहूर्त तक रह जाती है तो अनन्त-अतीन्द्रिय-आनन्द के साथ-साथ सर्वज्ञता भी प्राप्त हो जाती है ।

अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए, आत्मानुभूति के लिए, अनन्त अतीन्द्रित-आनन्द और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा को ही जानना है, जानते रहना है । यही मार्ग है, सन्मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, परमार्थ है, भगवान बनने का उपाय है, एकमात्र करने योग्य कार्य है; शेष सब अकार्य हैं, जी के जंजाल हैं ।

यह सब तो निश्चय मुक्तिमार्ग है, भगवान बनने का पारमार्थिक पंथ है; साथ में व्यवहार मुक्तिमार्ग भी होता है न ?

हाँ, होता है, अवश्य होता है; पर व्यवहार मोक्षमार्ग किसे कहते हैं– यह जानते हो ?

निश्चयमोक्षमार्ग माने वास्तविक मोक्षमार्ग । जिसके प्राप्त होने पर नियम से मुक्ति की प्राप्ति हो, उसे ही निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं । उक्त रत्नत्रय ही निश्चयमोक्षमार्ग है । इस रत्नत्रय के साथ भूमिकानुसार रहनेवाला शुभराग और सद्प्रवृत्ति को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है । उसमें व्रत-शील-संयम-तप-त्याग आदि सभी शुभभावरूप वृत्तियाँ आ जाती हैं ।

जब निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मुक्ति का मार्ग अन्तर में प्रगट होता है, तब से जबतक मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक के काल में उस ज्ञानी धर्मात्मा का जो बाह्य धर्माचरण होता है, अणुव्रतादिरूप शुभभाव होते हैं, तदनुकूल सद्प्रवृत्ति होती है; उसे ही सहचारी होने से व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं । वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग का सहचारी है । अतः उसे भी उपचार से व्यवहारमोक्षमार्ग कह दिया जाता है ।

क्या निज भगवान आत्मा को जानते रहने का नाम ही ध्यान है, जानते रहने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करना है ?

हाँ, भाई ! बात तो ऐसी ही है । उपयोग के आत्मा पर केन्द्रित होने के अतिरिक्त और ऐसा क्या है, जिसे ध्यान कहा जाय ? जब आपसे यह कहा जाता कि आप ध्यान करो तो आप उपयोग को केन्द्रित करने के अतिरिक्त और करते भी क्या हैं ? जब आप किसी से यह कहते हैं कि मुझसे तो ध्यान होता ही नहीं है तो उसका यही अर्थ होता है न कि आपका उपयोग आत्मकेन्द्रित नहीं होता है । पद्मासन तो आप लगा ही लेते हैं, हाथ पर हाथ रखकर भी बैठ ही जाते हैं, दृष्टि को भी नाशाग्र कर ही लेते हैं, रीढ़ की हड्डी को भी एकदम सीधी रखते ही हैं; पर ऐसा क्या बाकी रह गया कि आप कहते हैं कि ध्यान लगता ही नहीं । यही न कि आत्मा के ध्यान में मन नहीं लगता, और तो सब क्रिया-प्रक्रिया पूरी कर ही लेते हैं, पर मन नहीं लगता ।

यह मन का नहीं लगना क्या है ?

उपयोग का आत्मा पर केन्द्रित नहीं होना ही मन का नहीं लगना है। बाह्य क्रिया-प्रक्रिया का अभ्यास करने से कुछ भी होने वाला नहीं है, जब तक भगवान आत्मा का स्वरूप हमारी समझ में नहीं आयेगा, तबतक मन आत्मा में लगने वाला नहीं है । जब वह आत्मा को जानता ही नहीं है, पहिचानता ही नहीं है; तो आखिर वह लगे भी कहाँ ?

मन आत्मा में लगे इसके लिए आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहले जिनवाणी के माध्यम से, आत्मा के स्वरूप को जानने वाले सत्पुरुषों के माध्यम से, अध्ययन-मनन-चिन्तन के माध्यम से, तर्क-वितर्क के माध्यम से गहराई से जानना होगा; तब वह भगवान आत्मा हमारे अतीन्द्रिय ज्ञान का ज्ञेय बनेगा, ध्यान का ध्येय बनेगा और श्रद्धान का श्रद्धेय बनेगा, तभी उसमें अपनापन स्थापित होगा, तभी पर से अपनापन टूटेगा, पर्याय से अपनापन टूटेगा; एकमात्र त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी निजभगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होगा।

अरे भाई, आत्मकल्याण करना है तो, भगवान बनना है तो एकमात्र निज भगवान आत्मा को जानने-पहिचानने में शक्ति लगावो, सक्रिय हो जावो — कल्याण के मार्ग पर चलने का एकमात्र यही उपाय है ।

आत्मा की बात शास्त्रों में लिखी है, पर उसका रहस्य ज्ञानियों के हृदय में रहता है । अतः शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ ज्ञानियों का सत्समागम भी आवश्यक है, उनकी वाणी का श्रवण भी आवश्यक है । पढ़ने और सुनने से भी काम नहीं चलेगा, क्योंकि जबतक उसे तर्क की कसौटी पर कसकर उसकी परीक्षा नहीं करेंगे, तबतक वह अपना नहीं बन पावेगा, शास्त्रों और गुरुओं का बनकर रह जावेगा, हम तो मात्र सूचना विभाग के दफ्तर बनकर रह जावेंगे ।

जिसप्रकार सूचना विभाग के दफ्तर में सर्वप्रकार की सूचनाओं का संग्रह रहता है, पर वह विभाग उनसे अलिप्त ही रहता है; उसीप्रकार हम भी पढ़कर, सुनकर दूसरों को सुना देंगे या नये ग्रन्थ लिख देंगे, पर वह सत्य अपना नहीं बन पावेगा । जब हम उसे तर्क की कसौटी पर कसकर स्वीकार करेंगे तो हमारी उसके प्रति श्रद्धा जागृत होगी । परिणामस्वरूप हम सर्वशक्ति लगाकर उस परमसत्य का अनुभव करना चाहेंगे और समय पर हमें वह अनुभव प्राप्त होगा भी । यही मार्ग है, अतः हमें इसी दिशा में सक्रिय होना चाहिए । धर्म के नाम पर मात्र बाह्य प्रवृत्ति में उलझे रहकर समय खराब नहीं करना चाहिए ।

बाह्य सदाचार और शुभभाव ज्ञानी धर्मात्माओं के जीवन में भी होता है और होना भी चाहिए; पर वह आत्मा का धर्म नहीं है, आत्मा का धर्म तो निज भगवान आत्मा को जानना-पहिचानना और उसमें जमना-रमना ही है ।

यह बाह्याचार एवं सदाचार के निषेध बात नहीं है, पर उसमें ही धर्म मानकर सन्तुष्ट हो जाने के निषेध की बात अवश्य है; क्योंकि वहीं सन्तुष्ट हो जाने से आत्मा की खोज का काम शिथिल हो जाता है, समाप्त हो जाता है । शिथिल और समाप्त होने की क्या बात करें, सचमुच तो आत्मा की खोज का कार्य आरम्भ ही नहीं होता है और यह आत्मा बाह्य क्रियाकाण्ड में ही उलझकर रह जाता है ।

जैनधर्म की यह मान्यता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला-बुरा नहीं करता है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता ही नहीं है तो फिर भले-बुरे का सवाल ही कहाँ उठता है । जब यह बात सत्य है तो फिर दूसरे द्रव्य की क्रिया से किसी आत्मा का धर्म कैसे हो सकता है ? अतः यह सुनिश्चित है कि आत्मा का धर्म आत्मा में ही होता है, देहादि में नहीं, देहादि की क्रिया में भी नहीं । जैनदर्शन के अनुसार पर में कुछ करना कठिन नहीं, अशक्य है । अतः धर्म भी पर में कुछ करने रूप नहीं हो सकता । आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, जानना है; अतः जानना आत्मा का सहज धर्म है, आत्मा को जानते रहना भी आत्मा का सहज धर्म है । अतः आत्मज्ञान और आत्मध्यान आत्मा के सहजधर्म हैं। इसलिए इनमें कोई कठिनाई का सवाल ही नहीं उठता ।

तस्वीरे खुदा हृदय के आइने में है,
जब चाही गर्दन झुकाई देख ली ।

इसमें कहा गया है कि खुदा की तस्वीर तेरे हृदय-दर्पण में है, अतः जब तू चाहे गर्दन झुकाकर उसे देखा जा सकता है । पर भाई, यह बात तो इस्लाम की है, हमारी नहीं । अरे भाई, क्या गर्दन झुकाना कोई आसान काम है ? विशेषकर उस स्वाभिमानी देश में जहाँ कहा जाता है कि — गर्दन कटा सकते हैं पर गर्दन झुका सकते नहीं ।

स्वाभिमानियों के लिए तो गर्दन झुकाना भी मौत से कम नहीं है ।

जब कभी हमारी गर्दन में दर्द हो जाता है तो गर्दन का हिलाना भी असंभव हो जाता है, झुकाना तो बहुत दूर की बात है । इतनी तकलीफ उठाकर भी, स्वाभिमान खोकर भी यदि गर्दन झुका भी ली तो भी क्या मिलने वाला है ? दर्शन भी खुदा के नहीं, खुदा की तस्वीर के होंगे । हमें किसी की तस्वीर के दर्शन नहीं करना है, हमें किसी अन्य खुदा के भी दर्शन नहीं करने हैं । हम तो स्वयं खुदा हैं न ?

कम्बख्ती इस रूह की ऐसी है कि
खुद खुदा होकर भी बन्दा नजर आता है ।

अरे भाई, हम किसी के बन्दा नहीं, खुद खुदा हैं । हम किसी के भक्त नहीं, वरन् स्वयं भगवान हैं । हमें किसी अन्य खुदा के दर्शन नहीं करना है; स्वयं को ही जानना-पहिचानना है । स्वयं को जानने के लिए, देखने के लिए गर्दन झुकाने की आवश्यकता नहीं होती है, अपितु ज्ञान पर्याय को त्रिकाली ध्रुव में लगाना होता है, अपने भगवान आत्मा को ज्ञान का ज्ञेय बनाना होता है । यही कारण है कि हमारी जो ध्यान की मुद्रा है, उसमें हमारी गर्दन झुकी नहीं रहती है, अपितु एकदम सीधी रहती है और सीधी रहनी चाहिए।

बहुत से लोग कहते हैं कि ध्यान में हमें अपनी नाक को देखना चाहिए, नाक की नोक देखना चाहिए । कोई कहते हैं कि आते-आते श्वास-प्रश्वास को देखना चाहिए, पर इसमें तो नाक के दर्शन होंगे, श्वास-प्रश्वास के दर्शन होंगे; आत्मा के नहीं । धर्म तो आत्मा के दर्शन का नाम है; नाक के दर्शन या श्वास-प्रश्वास के दर्शन का नाम नहीं ।

इस पर यदि कोई कहे कि जैनदर्शन में भी तो ध्यान में नाशाग्रदृष्टि की बात कही गई है ।

हाँ, हाँ, नाशाग्रदृष्टि की बात कही गई है, पर नाक के दर्शन की तो नहीं कही । नाशाग्रदृष्टि और नाक के दर्शन में बहुत अन्तर है ।

खुली आँख परदर्शन की निशानी है और बन्द आँख सो जाने की, प्रमाद की निशानी है । न परदर्शन में धर्म है न प्रमाद में । धर्म तो आत्मदर्शन का नाम है, धर्म तो अप्रमाद दशा का नाम है । नाशाग्रदृष्टि आत्मदर्शन और अप्रमाद की प्रतीक हैं ।

क्यों और कैसे ?

यदि हमें आत्मा का दर्शन करना है तो प्रमाद छोड़कर उपयोग को आत्मसन्मुख करना होगा । चूँकि आत्मदर्शन इन आँखों से संभव नहीं है; अतः इन पर से उपयोग हटाना होगा । आँखों को न बन्द करना है न

खोलना है और न नाशाग्र ही करना है; आँखों में कुछ करना ही नहीं है, उन पर से तो उपयोग हटाना है और आत्मा पर ले जाना है ।

ऐसी स्थिति में आँखों की स्थिति कैसी रहेगी, क्या चाहे जैसी रह सकती है ?

नहीं, नाशाग्र ही रहेगी; क्योंकि नाशाग्र ही ज्ञानी-ध्यानी की आँख की सहज अवस्था है । आँख भीचने में भी उपयोग लगेगा; और खोले रखने में भी उपयोग लगेगा; पर नाशाग्रता में उपयोग की आवश्यकता नहीं है। उपयोग आँख पर से हटकर आत्मा में चला जावे तो आँख सहज नाशाग्र हो जाती है । आँख नाशाग्र होती है, पर नाक दिखती नहीं; क्योंकि दिखाई तो आत्मा दे रहा है । जब नाक दिखती है तो आत्मा नहीं दिखता और जब आत्मा दिखता है तो नाक नहीं दिखती—छद्मस्थों की यही स्थिति है।

अतः यह स्पष्ट है कि नाशाग्रदृष्टि का अर्थ नाक को देखना नहीं है। मैं आपसे ही पूछता हूँ कि जब भगवान को केवलज्ञान हुआ था, तब वे क्या कर रहे थे ?

कुछ नहीं । पर का तो कुछ भी नहीं कर रहे थे; पर अपने आत्मा का ध्यान कर रहे थे ।

तो बस, यही समझ लीजिए कि पर का कुछ भी करना धर्म नहीं है; क्योंकि पर का करते-करते आज तक किसी को केवलज्ञान नहीं हुआ । आत्मा का ध्यान ही धर्म है, क्योंकि आज तक जितने जीवों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, सभी को आत्मा का ध्यान करते-करते ही हुई है । अतः आत्मा का ध्यान ही धर्म है ।

आत्मा का ध्यान करने के लिए पहले उसे जानना जरूरी है; अतः धर्म करने की इच्छा रखनेवाले को सर्वप्रथम आत्मा को जानने का, पहिचानने का प्रयास करना चाहिए। यही मार्ग है, शेष सब अमार्ग हैं, छलावा मात्र हैं।

सभी आत्मार्थीजन निज भगवान आत्मा को जानकर, पहिचान कर; उसका ही ध्यान धरें;—इस पावन भावना से विराम लेता हूँ ।

परिशिष्ट १

और अब खाड़ी के देशों में भी

डॉ. भारिल्ल अमरीकी और यूरोप के देशों में तो धर्मप्रचारार्थ विगत आठ वर्ष से प्रतिवर्ष दो माह के लिए जा ही रहे हैं; इस वर्ष भी ४ जून, १९९२ ई. को जा रहे हैं, जिसका विस्तृत कार्यक्रम आगामी अंकों में प्रकाशित किया जायेगा ।

इस वर्ष वे खाड़ी देशों (गल्फ कन्ट्रीज) की धर्मप्रचारार्थ यात्रा करके आये हैं। जैन सोशल ग्रुप के संस्थापक अध्यक्ष श्री सी. एन. सिंघवी एवं दुबई, सरजाह एवं आबूधबी की जैन समाज के विशेष अनुरोध पर यह कार्यक्रम सुनिश्चित किया गया था ।

जैन सोशल ग्रुप की भारत के साथ-साथ अमरीकी और यूरोप के देशों में भी अनेक शाखायें हैं। दुबई में भी एक शाखा है, जिसने चर्च के विशाल हॉल में २९ फरवरी, १९९२ को शाकाहार पर प्रवचन रखा था। इसमें २०० से अधिक लोग उपस्थित थे। सभी ने बड़ी ही उत्सुकता एवं शान्ति से व्याख्यान सुना, उसके बाद सम्बन्धित विषय पर प्रश्नोत्तर भी हुए ।

२२ फरवरी, १९९२ से २ मार्च, १९९२ तक की यह १० दिवसीय अत्यंत सफल यात्रा में एक-एक घण्टे के छह व्याख्यान एवं इतने ही घण्टों की चर्चा दुबई में हुई। एक व्याख्यान आबूधबी में एवं एक व्याख्यान सरजाह में हुआ ।

वहाँ वे नितीशभाई के घर ठहरे थे। वे एक अच्छे चार्टर्ड अकाउण्टेण्ट हैं। उन्होंने ही इस यात्रा की सम्पूर्ण व्यवस्था की थी। एक छुट्टी के दिन उन्होंने अपने घर में ही दिनभर का कार्यक्रम रखा था। सभी श्रोताओं के भोजनादि की व्यवस्था भी की थी। दिनभर में तीन-तीन घंटे के दो सत्र चलाये, जिसमें प्रवचनों के अलावा प्रश्नोत्तर व खुली चर्चा भी हुई ।

प्रवचनों के विषय क्रमबद्धपर्याय, आत्मा और परमात्मा, आत्मानुभव आदि ही थे। प्रतिदिन के कार्यक्रमों में ३० से ५० व्यक्तियों तक उपस्थिति रहती थी। इस अवसर पर वहाँ बम्बई के प्रसिद्ध समाजसेवी दीपचंदजी गार्डी भी पधारे थे। सबकुछ मिलाकर कार्यक्रम बहुत प्रभावक रहे। सभी लोगों ने प्रति तीन माह में एकबार पधारने का विशेष अनुरोध किया। दुबई में नवीनभाई शाह धार्मिक कक्षाओं और गोष्ठियों का संचालन करते हैं। इसकारण लोगों में धार्मिक वातावरण बना हुआ है। डॉ. भारिल्ल के जाने से वहाँ आध्यात्मिक रुचि भी जागृति हुई है ।

— **वीतराग-विज्ञान**, अप्रैल १९९२, पृष्ठ-२ से साभार

जून-जुलाई १९९२

यह तो सर्वविदित ही है कि डॉ. भारिल्ल विगत नौ वर्षों से प्रतिवर्ष धर्मप्रचारार्थ यूरोप और अमेरिका महाद्वीप की यात्रा करते रहे हैं। लगभग जून और जुलाई माह उनके वहीं बीतते हैं। प्रतिवर्ष अपनी यात्रा का विवरण और वहाँ प्रतिपादित विषयवस्तु के सम्बन्ध में वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों के रूप में वे स्वयं लिखते थे ।

उनके वे सम्पादकीय विदेशों में जैनधर्म नाम से अनेक भागों में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हैं। उन सभी भागों को पुन: सम्पादित करके एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की भी योजना है, क्योंकि उसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु तात्त्विक और स्थाई महत्त्व की विषय-वस्तु है ।

अब वे समयसार के अनुशीलन करने में व्यस्त हैं और 'समयसार : एक अनुशीलन' नाम से लेखमाला भी आरम्भ हुई है, जो वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों के रूप में लगातार आ रही है। अत: अब उनका इस वर्ष की गई नौवीं यात्रा का विवरण लिखने का विचार नहीं है ।

इस वर्ष लगभग सर्वत्र ही समयसार पर ही प्रवचन हुए हैं और समयसार अनुशीलन लिखा ही जा रहा है, अत: विशेष लिखने की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। विषय-वस्तु की मुख्यता से विवरण लिखा जाता था। अब जब विषय-वस्तु नहीं लिखी जा रही है तो विवरण भी नहीं लिखा जा रहा है ।

उनके माध्यम से जो सामान्य जानकारी प्राप्त हुई है, उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है :-

भिण्डर (उदयपुर) राजस्थान में १७ मई से ३ जून, १९९२ तक सम्पन्न शिविर में आद्योपान्त रहकर वे ४ जून, १९९२ को अमेरिका के लिये रवाना हो गये ।

वहाँ क्रमश: डलास, डिट्रोयट, टोलिडो, लासएंजिल्स, सानडियागो, लघुनाबीच, शिकागो, मियामी, टोरन्टो, वोस्टन, न्यूयार्क आदि अमेरिकी नगरों में होते हुए १५ जुलाई, १९९२ को लन्दन पहुँचे। वहाँ एक सप्ताह रुककर २३ जुलाई, १९९२ को जयपुर आ गये, क्योंकि यहाँ २६ जुलाई, १९९२ से शिविर आरम्भ था ।

सभी स्थानों पर अच्छी धर्मप्रभावना हुई। सर्वत्र ही मुख्य प्रवचन तो समयसार पर ही हुए, पर प्रसंगानुसार कहीं-कहीं, जैन-आहार विज्ञान, अहिंसा, शाकाहार-श्रावकाचार, क्रमबद्धपर्याय, उत्तमक्षमा, मार्दव, निमित्त-उपादान आदि विषयों पर भी हुये ।

— **वीतराग-विज्ञान**, अगस्त १९९२, पृष्ठ-२ से साभार

परिशिष्ट ३

जून-जुलाई १९९३

यह तो सर्वविदित ही है कि डॉ. भारिल्ल भोपाल शिविर के तत्काल बाद ३ जून, १९९३ को अमेरिका के लिए रवाना हो गये थे। नार्थ अमेरिका के विभिन्न नगरों एवं लन्दन (यूरोप) में धर्मप्रभावना कर जयपुर शिविर पूर्व ३ अगस्त, १९९३ को वे जयपुर आ गये हैं। उनके द्वारा वहाँ हुई धर्मप्रभावना के समाचार जो उनसे सुनने को मिले हैं; उनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है :-

पिट्सवर्ग में सम्पन्न जैना का द्विवार्षिक सम्मेलन एवं शिकागो में जिनबिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव इस यात्रा के विशेष उल्लेखनीय प्रसंग हैं ।

पिट्सवर्ग के इस सम्मेलन में सम्पूर्ण नार्थ अमेरिका, विभिन्न यूरोपीय एवं अनेक एशियन देशों से लगभग पाँच हजार लोग उपस्थित थे। एक छोटा-मोटा भारत ही उपस्थित था। एकदम भारतीय परिवेश था। मेला-सा लग रहा था। एक साथ ही अनेक सभागृहों में कार्यक्रम चलते थे। डॉ. भारिल्ल के प्रवचन प्रतिदिन ही भद्रवाहु हाल में होते थे। जिसमें लगभग पाँच सौ लोगों की उपस्थिति रहती थी। अनेकों श्रोता तो पुराने सुपरिचित थे, पर अनेक लोग ऐसे भी थे, जिन्होंने उन्हें इस अवसर पर पहली बार ही सुना था। यहाँ डॉ. भारिल्ल ४ दिन रहे ।

इसीप्रकार शिकागो के पंचकल्याणक में भी सात हजार लोगों की उपस्थिति थी। यहाँ भी डॉ. भारिल्ल के प्रवचन लगभग प्रतिदिन ही हुए। कभी मुख्य पंडाल में कभी विशाल हॉल में। यहाँ तीन शिखरों से सुशोभित सुन्दरतम जिनमन्दिर का निर्माण हुआ है। तीनों शिखरों के नीचे तीन वेदियाँ हैं, जिसमें एक में तीन दिगम्बर मूर्तियाँ हैं। बीच में भगवान आदिनाथ की तीन फुट की एवं अगल-बगल में २.५-२.५ फुट की भगवान वासुपूज्य एवं नेमिनाथ के जिनबिम्ब हैं। शेष दो वेदियों में ७ श्वेताम्बर जिनबिम्ब हैं। यहाँ डॉ. भारिल्ल १० दिन रहे। इन दस दिनों में उनके प्रवचनों द्वारा महती धर्मभावना हुई ।

इनके अतिरिक्त मियामी, डलास, अटलान्टा, वाशिंगटन डी.सी., न्यूयार्क न्यूजर्सी, एलनटाउन एवं सिद्धाचलम् में धर्मप्रभावना करते हुए ७ सप्ताह बाद एक सप्ताह के लिए आप लन्दन पहुँचे; जहाँ नवनिर्मित दिगम्बर जैन सेन्टर में आपके प्रतिदिन दिन में तीन बार प्रवचन होते थे। प्रात: नयचक्र पर, दोपहर में निमित्त-उपादान पर एवं शाम को समयसार पर बहुत ही मार्मिक एवं गहरे प्रवचन हुए। यहाँ दिगम्बर जिनमन्दिर भी बन रहा है। इसी अवसर पर पण्डित विपिनकुमारजी शास्त्री, बम्बई भी पहुँच गये थे। उनके भी तीन प्रवचन हुए, जिनकी सभी ने बहुत सराहना की । — **वीतराग-विज्ञान**, सितम्बर १९९३, पृष्ठ-३२

प्रस्तुत पुस्तक की क़ीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

क्र.सं.	दातारों के नाम	राशि रु. में
१.	साहित्य प्रचार ध्रुवफण्ड द्वारा पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	५००१.००
२.	श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, बोरीवली-दहीसर, बम्बई पर्युषण पर्व के उपलक्ष्य में हस्ते. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	५०००.००
३.	श्रीमती पानादेवी ध.प. श्री मोहनलाल सेठी, गोहाटी	२५०१.००
४.	श्रीमती सज्जनबाई ध.प. श्री रतनलाल अजमेरा	११०१.००
५.	श्रीमती सुहागरानी जैन, दिल्ली	११००.००
६.	श्रीमती चन्द्रकला जैन	१०००.००
७.	जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि., जयपुर	५०१.००
८.	श्रीमती राजकुमारी ध.प. श्री कोमलचन्द गोधा, जयपुर	२०१.००
९.	श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज (महा.)	१५१.००
१०.	श्री जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी, बम्बई	१११.००
११.	विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, कहाननगर सोसायटी, बम्बई	१११.००
१२.	श्रीमती आरती अतुल जैन, मलाड़-बम्बई	१११.००
०३.	चौ. फूलचन्द जैन द्वारा मनोज एण्ड कम्पनी, बम्बई	१०१.००
४.	श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमार जैन, बैंगलौर	१०१.००
१५.	श्रीमती सुशीलाबाई ध.प. श्री जवाहरलाल बड़कुल, विदिशा	१०१.००
१६.	श्रीमती सुशीलाबाई नन्दकुमार सिंघई, इन्दौर	१०१.००
	योग	१७,२९३.००

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	परमभावप्रकाशक नयचक्र (हिन्दी, गुजराती)	११.००
२.	पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११.००
३.	आत्मा ही है शरण	११.००
४.	समयसार अनुशीलन भाग-१ (पूर्वार्द्ध)	१०.००
५.	तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़, अंग्रेजी)	७.००
६.	सत्य की खोज (हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़)	७.००
७.	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	६.००
८.	बारहभावना : एक अनुशीलन	६.००
९.	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	५.००
१०.	गागर में सागर	५.००
११.	वीतराग विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	५.००
१२.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५.००
१३.	आप कुछ भी कहो (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	४.००
१४.	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	३.००
१५.	निमित्तोपादान	२.५०
१६.	युगपुरुष कानजीस्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	२.००
१७.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में (हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी)	१.५०
१८.	शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१.५०
१९.	चैतन्य चमत्कार	१.५०
२०.	मैं कौन हूँ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	१.५०
२१.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना	१.२५
२२.	कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित) (हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती)	१.२५
२३.	शुद्धात्म शतक (अर्थ सहित)	१.२५
२४.	सार समयसार	१.२५
२५.	तीर्थंकर भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती, म., क., त., अं., ते.,)	१.००
२६.	समयसार पद्यानुवाद	१.००
२७.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	१.००
२८.	शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	१.००
२९.	अर्चना (जेवी साइज)	०.७५
३०.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना (जेवी साइज)	०.५०
३१.	वीतरागी व्यक्तित्व भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)	०.२५
३२.	बालबोध पाठमाला भाग-२ (हिन्दी, गुजराती, म., क., त., बं., अं.)	१.५०
३३.	बालबोध पाठमाला भाग-३ (हिन्दी, गुजराती, म., क., त., बं., अं.)	१.५०
३४.	वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग-१, २, ३ (सेट) (हि., गु., म., क., अं.)	६.५०
३५.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	२.५०
३६.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२ (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी)	२.५०